तीनों यात्राएँ
जिनके कन्धों पर सवार होकर कीं
उन्हीं
सुप्रसिद्ध पर्वतारोही और छविकार
तपोवन-विहारी
स्वामी सुन्दरानन्द जी
को

प्रवेश

मानदण्ड भू के अखण्ड हे
पुण्यधरा के स्वर्गारोहण
प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण से,
घेरे मेरे जीवन के क्षण। (पंत)

"हिमालय के उत्तुग शिखरो के आरोहण-अभियान मे एक अव्यक्त और अनिर्वच-नीय आनद निहित है। अंतरात्मा की कोई शक्ति हमे निरंतर इस उच्चता की ओर बढ़ने के लिए पुकारती रहती है। इन साहसिक यात्राओ का प्रारम्भ कब हुआ, यदि कोई यह पता लगाने की कोशिश करे तो अद्भुत परिणाम सामने आयेंगे। इन शिखरो के आकर्षण की पृष्ठभूमि का परिज्ञान यह सिद्ध कर देगा कि हिमालय अप्रतिम क्यों है। अज्ञात अतीतकाल से असंख्य विभूतियों का सबंध इन पार्वत्य अचलों से जुड़ा हुआ है।"[1]

"संसार-भर में जब कभी हिमालय शब्द का उच्चारण होता है तो, लोग सचेत हो जाते है। एक विशिष्ट कुतूहल और आकाक्षा से उनका मुख-मण्डल दमक उठता है। यह केवल अत्यधिक ऊँचाई की ही धारणा नही है, अजेय शिखरों की ललकार ही नही है, अज्ञात हिम-सरोवरो और घाटियों की ही कल्पना नहीं है, वनस्पतियों और पशुओं की अविश्वसनीय सम्पत्ति की भी बात नही है, बल्कि इन बाहरी आकर्षणों की अपेक्षा कोई और ही महान विशिष्टता है इस शब्द मे, मानो कोई अदृश्य मानसिक प्रभाव हो उस शब्द में, कोई विशिष्ट चुम्बकीय शक्ति हो, जिसने हिमालय को धार्मिक यात्राओ का एक महान केन्द्र बनाया।"[2]

इन विचारों की प्रतिध्वनि अनादि काल से चले आ रहे हमारे आध्यात्मिक और ललित दोनों प्रकार के साहित्य मे ध्वनित हो रही है। गीता मे स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है, "स्थावराणाम् हिमालयः।" (अचल पदार्थों में मैं हिमालय हूँ।) अर्थात् हिमालय अचल पदार्थों मे सर्वश्रेष्ठ है। मत्स्य पुराण का 117वाँ अध्याय विशेष

1. निकोलस रौरिक
2. स्वेटोस्लोव रौरिक, 'आरोग्य', गोरखपुर, अगस्त, 1961

रूप से हिमालय की सुषमा का वर्णन करता है :

> मेघोत्तरीयकं शैलं ददृशे स नराधिपः।
> श्वेतमेघकृतोष्णीषं चन्द्रार्कमुकुटं क्वचित्॥
> हिमानुलिप्तसर्वांग क्वचिद्धातुविमिश्रितम्।
> चन्दनेनानुलिप्तांगि दत्तापंचांगुलं यथा॥
> क्वचित संस्पृष्ट सूर्यांशु क्वचिच्च तमसावृतम्।
> दरीमुखैः क्वचिद् भीमैः पिबन्त सलिलं महत्॥

—राजा (पुरूरवा) ने देखा कि हिमालय मेघ की चादर ओढ़े हुए है। पगड़ी भी मेघों की है। मुकुट के स्थान पर सूर्य-चन्द्र हैं, समूची देह पर हिम का आलेपन है और बीच-बीच में नाना धातुओं का योग है। मानो चंदन का आलेपन करके किसी ने पांचो उँगलियों की छाप अंकित कर दी हो। वह हिमालय राजा को कहीं सूर्य की किरणों से प्रकाशित, कहीं अंधकार से आवृत्त और कहीं बड़ी-बड़ी कंदराओं के मुँह से पानी पीता हुआ दिखायी दिया।

किरातार्जुनीयम् का कवि हिमालय की स्वर्ग के समान शोभा का वर्णन करता हुआ कहता है, "हिमालय के शिखर रत्नों के भण्डार से शून्य नहीं हैं। न तो उसके गुहा-प्रदेश लता-गृहों से विहीन है और न नदियों के पुलिन कमलों से। वृक्ष और वनस्पतियाँ भी पुष्पों के भार से रहित नहीं है। इस हिमालय में पुष्पों से आवृत्त सुन्दर लताएँ ही भवन है, औषधियाँ ही दीपक है। नये सुर तरु किसलय की शैयाएँ है। यहाँ कमल-पुष्पों के ऊपर से बहने वाली वायु से रति का श्रम दूर होता है। इन सब सुख-सुविधाओं एवं सुषमाओं के कारण सुर-सुन्दरियों को स्वर्ग की याद भी नहीं आती।"

कालिदास का यह श्लोक मानो हिमालय की आत्मा का चित्रण है—

> **अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।**
> **पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥** (कुमारसम्भवम्)

—उत्तर में देवतुल्य 'हिमालय' नामधारी पर्वत है। उसके दोनों छोर (ब्रह्मपुत्र और सिंधु) पूर्व और पश्चिम के समुद्रों में डूब गये है। वह ऐसा दिखायी देता है मानो पृथ्वी को नापने के लिए कोई मानदण्ड स्थापित किया गया हो।

और भी :

"इसके कुछ शिखर इतने ऊँचे है कि मेघ भी उनके मध्य भाग तक पहुँचकर रह जाते है। शेष भाग मेघो के ऊपर निकला रहता है। इसलिए नीचे के भाग में छाया का आनन्द लेने वाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षा होने से व्याकुल हो उठते है तब वे मेघो के ऊपर उठे हुए उन शिखरो पर जाकर रहने लगते हैं, जहाँ उस

समय धूप खिली रहती है।

"गंगा जी के झरनों के जलकणों से आयुक्त, निरंतर देवदारु के वृक्षों को कँपाने वाला और किरातों की कमर में बँधे हुए मोर-पंखों को फड़फड़ाने वाला, यहाँ का शीतल-मंद-सुगंध पवन उन किरातों की थकान मिटाता चलता है, जो मृगों की खोज में हिमालय पर सदा इधर-उधर घूमते रहते हैं।"

हिमालय के तुषार-मण्डित शिखरों, देवदारु और भोजपत्रों के वृक्षों, कंदराओं और गुफाओं की सुषमा, नाना औषधियों से सुगंधित वनश्री की मोहकता, निर्झरों के सौन्दर्य और इसका परस पाकर बहती हुई शीतल मंद पवन का वर्णन करते हुए महाकवि अघाता नहीं है।

इस अपूर्व सुषमा के कारण ही हिमालय का आकर्षण आज भी अक्षय है। उसकी पुकार आज भी मानव-मन को उद्वेलित कर देती है। भू-स्तर-शास्त्र की दृष्टि से, प्राणिशास्त्र की दृष्टि से, आध्यात्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से, भव्यता और रोमांतिक दृष्टि से—सभी दृष्टियों से यह नगाधिराज पृथ्वी का मानदण्ड है। प्रेमियों के लिए यहाँ चिर मधुरात्रि है, चिंतकों के लिए चिर-एकान्त है, जो क्लांत हैं उनके प्राणों को सहलाने वाले विश्रामस्थल हैं और जो जीवन से निराश हो चुके हैं उनको जीने की प्रेरणा देने वाले सुरम्य प्रदेश भी यही है। संस्कृति के परिव्राजक काका साहब कालेलकर के शब्दों में—"यह इतना विशाल है कि इसमें संसार के सभी दुख समा सकते हैं। इतना शीतल है कि सब प्रकार की चिंता-रूपी अग्नि को शांत करने की सामर्थ्य भी इसमें है। इतना धनवान है कि कुबेर को भी आश्रय दे सकता है और इतना ऊँचा है कि मोक्ष की सीढ़ी बन सकता है।"

तमिल कवि तुरैवन स्वयं ही प्रश्न करते हुए और स्वयं ही उत्तर देते हुए हिमालय का परिचय इस प्रकार देते हैं:

है कहाँ, हिमालय ? है वह सब के अन्तर में
है कहाँ बैरी, मिटाओ पल भर में—
यह आवेश ही तो है हिमालय—
बन माना क्या गिरि को या पाषाणखण्ड ही माना
नहीं, नहीं, पाषाण नहीं वह
कोटि-कोटि भारतीयों का, झुण्ड ही तो है हिमालय,
महिमाएँ भारत की क्या मृत, तुम्हारे मत में ?
नहीं, नहीं, महिमाएँ, गरिमाएँ वे सारी
बनी हुई हैं अचल हिमालय, अजर हिमालय
है वह सबके अन्तर में।

दूर से देखने वालों के लिए वह मात्र एक पर्वत है—संसार का सबसे ऊँचा

पर्वत, लेकिन जो उनके पास जा चुके है, जिन्होंने उसकी सुषमा का, उनके सौन्दर्य का और उसकी मनोरम प्रकृति का जीवंत स्पर्श पाया है, उनके लिए वह अध्यात्म और मानवीय रूप-लावण्य का साक्षात स्वरूप ही है। इसी गंध का स्पर्श पाते ही मानव-आत्मा मानो खिल उठती है। मानो इसमें एकाकार होने को आतुर हो जाती है। वह एक साथ विराट और पवित्रतम है। उसकी अगम्य गिरि कंदराओं और हिमानियों से उत्पन्न हुई अनेक सरिताएँ मनुष्य की प्राण-रक्षा ही नहीं करती, उसकी रूप-पिपासा को भी शांत करती है। हिमालय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैसे-जैसे मनुष्य उसकी ओर आकर्षित होता है, उसके समीप पहुँचता है, वैसे-वैसे ही उसे यह अनुभव होता है कि वह अपने घर आ रहा है। संसार के सुदूरतम प्रदेशों से आने वाले व्यक्ति का मन उस आतुरा कन्या की तरह हो उठता है, जो बहुत दिन तक पतिगृह में रह कर माँ के घर लौटती है।

हिमालय के आकर्षण में आध्यात्मिकता और सौन्दर्य का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। प्रतिवर्ष भारत के हर भाग से आने वाले यात्रियों की दृष्टि से तो हिमालय का गौरव है ही, मनीषी ब्राह्मण भी अपनी दर्शन-पद्धति के लिए यहाँ के प्राकृतिक प्रतीकों का उपयोग करता है। भारतीय काव्य और पौराणिक कथाएँ इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि हिमालय विश्व की केन्द्र-भूमिका है। महाकवि कालिदास ने कैलास की गगन-चुंबी धवल चोटियों को आकाश का कमल कहा है। यह कवि-कल्पना स्पष्ट कर देती है कि क्यों भारतीय शिल्प और चित्रों में कमल को ही देवताओं का आसन कहा गया है।

"यह नैसर्गिक दृश्य देख कर ही संभवतः वैदिक आर्यों ने अपना जीवन एकदम साधारण रखा और किसी प्रकार के मन्दिरों और विराट शिखरों का निर्माण नहीं किया। किन्तु जैसे-जैसे वे दक्षिण की ओर बढ़ते गये, हिमालय के सौन्दर्य की अनुभूति अपने साथ लेते गये। अपने धार्मिक कृत्यों में प्रतीकों का विधान हिमालय की सामग्री से ही करने लगे। आर्यों को सृजनात्मक प्रेरणा हिमालय के उपादानों से मिली, इसमें संदेह नहीं।"[1]

वास्तु और स्थापत्य-कला के माध्यम से भारतीय कलाकारों ने कैलास की कल्पना को पुनः साकार बनाया। इसके अनेक उदाहरण एलोरा की गुफाओं में देखे जा सकते हैं। सचमुच हिमालय का अपूर्व सौन्दर्य देखकर हमें स्रष्टा के लिए प्रशंसात्मक शब्द तक नहीं मिलते। "सबसे अधिक पूर्ण और उच्च सौन्दर्य है भगवान।"[2] इसी सौन्दर्य की अनुभूति है आध्यात्मिकता। इसी का सम्पर्क मानव के लिए संजीवनी के समान है। हिमालय इस संजीवनी का अक्षय भण्डार है। किसी प्रसंग में मैंने बेटोस्लोव रौरिक से कहा था, "हिमालय बहुत सुन्दर है।" सुन-

1. हैवेल
2. तोलस्ताय

कर हिमालय की आत्मा को अपनी चित्रकला में मूर्त रूप देने वाला वह शिल्पी मुड़ा, मेरी आँखों में झाँका, कहा, "सौन्दर्य ही हिमालय है।"

आदिकाल से आर्य-ऋषियों ने सर्वप्रथम यहीं पर देवदारु की कलामयी छाया में कलकल निनादिनी सरिताओं के तट पर, इन्द्र-धनुषों के प्रकाश में किसी अज्ञात शक्ति का आह्वान किया था। इसी प्रदेश से अगस्त्य ने विंध्य का मानमर्दन करने के लिए प्रस्थान किया था। पृथ्वी को दुहने के लिए पृथु यहीं से गया था। यहीं पर सूर्यवंशी सगर, अंशुमान, दिलीप और भगीरथ गंगा को खोजने आये थे। यहीं पर कृष्ण ने गंधमादन पर तप किया था। पांडवों ने इसी प्रदेश से जन्म और निर्वाण पाया। कश्यप और अगस्त्य, जमदग्नि और वेदव्यास, वशिष्ठ और विश्वामित्र, गौतम और अत्रि—इन सभी प्रज्ञापुत्रों के तपोवन इसी हिमालय की गोद में पुष्पित-पल्लवित हुए थे और इसी पावन प्रदेश में आर्येतर देवता शिव ने आर्यों के स्वर्ग में प्रवेश पाकर अपना साम्राज्य स्थापित किया था। और फिर यहीं पार्वती के साथ प्रणयकेलि का इतिहास रचा था। यहीं कामदेव भस्म हुआ और यहीं चिरकुमारी-चिरसुन्दरी विश्वप्रिया उर्वशी ने जन्म पाया। यहीं अप्सराओं के नुपुरों की ध्वनि गूँजी और यहीं पर नृत्य-नाट्य और संगीत में पारंगत यक्ष, किन्नर, किरात और खश आदि जातियाँ पनपीं और मिट गयीं। ऐतिहासिक युग में तथागत बुद्ध, सम्राट चन्द्रगुप्त, आद्य शंकराचार्य, समर्थ रामदास, महर्षि दयानन्द सरस्वती, वेदान्त-केसरी स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ—इन सभी महात्माओं ने इसी की गोद में प्रेरणा प्राप्त की थी। तिब्बत का वह सन्त कवि मिलरेप यहीं प्रकृति की प्रतिध्वनियों और पारलौकिक स्वरों को सुनता रहा था। मैदान में संघर्षों से ऊबकर या पराजित होकर कितने ऐतिहासिक वीरों ने यहाँ समाधि बनायी है, इसका लेखा-जोखा किसके पास है?

किन्हीं के लिए हिमालय प्रणव की भूमि है, किन्हीं के लिए प्रणय की रम्यस्थली, कोई यहाँ प्रेरणा पाता है तो किसी के लिए यह पलायन का स्थान है। ये सब तो मानव की सीमित कल्पना की सीमा-रेखा के रूप हैं। अपने-आप में तो यह मूक तपस्वी सौंदर्य और साधना में कोई अंतर नहीं मानता। इसीलिए किसी भी कारण से हो, सर-सरिताओं, वृक्ष-पादपों, पशु-पक्षियों और औषधियों के समान ही मानव को भी उसने सदा शरण दी है। शरण के वे स्थान आज भी वर्ष में आठ मास तक मानवीय क्रीड़ा से गूँजते रहते हैं। उसकी छोटी-छोटी चोटियों पर तो वर्ष-भर बस्तियाँ बसी रहती हैं, परन्तु सर्वोच्च शिखरों पर भी मनुष्य के चरण-चिन्ह अंकित हो गये हैं। विदेशियों ने और अब तो देशवासियों ने भी इस दिशा में अनथक प्रयत्न किये हैं। एक बार एक विदेशी महिला अकेली ही हिमालय में घूम रही थी। उनसे किसी ने पूछा, "क्या आप अकेली ही सुदूर यूरोप से हिमालय के दर्शन करने आयी हैं?"

गद्गद होकर उस महिला ने उत्तर दिया, "आप भारतवासी धन्य है, जो सौंदर्य के आगार इस हिमालय के नित्य दर्शन करते है। मैने स्कूल में इसकी सुषमा का वर्णन पढ़ा था और तभी प्रतिज्ञा की थी कि एक दिन इसके दर्शन करूँगी। उस प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए मैं अभी तक अविवाहित रही और पिता की सम्पत्ति से जो कुछ मिला उसी को लेकर इस रम्यस्थली के दर्शन करने आयी हूँ।"

इस महिला-जैसी भावना आज के भारतवासी मे नही रह गयी है, परन्तु फिर भी प्राचीनकाल के भारतवासियो मे इसकी सुषमा के प्रति अनन्य आकर्षण था, यह झूठ नही है। तत्कालीन मान्यताओ के अनुसार उन्होंने हिमालय को धर्म और पुण्य का स्थल बना दिया था। यह धार्मिक मान्यता इसे केवल कल्पना के आधार पर ही नही मिली है। इसकी विशिष्टता अर्थात् झीलो और नदियो की प्रमुखता, प्राकृतिक वैभव की सम्पन्नता, अनुपम सुंदरता और सुषमा के कारण ही न केवल भारतवासी, बल्कि चीनी तथा दूसरी जातियों के लोग इसे देवताओ का आवास-गृह मानते रहे है।

हिमालय के पाँच प्रमुख भाग है—काश्मीर, जालंधर, केदार (उत्तराखण्ड), कुमायूँ (कूर्मांचल) और नेपाल। इसमे भी उत्तराखण्ड सबसे पवित्र माना जाता है। गंगोत्री, जमनोत्री, बदरीनाथ, पंच प्रयाग (देव, रुद्र, विष्णु, नंद और कर्ण), पंच केदार (केदारनाथ, तुगनाथ, रुद्रनाथ, कल्पेश्वर तथा मद्यमेश्वर), उत्तर-काशी और ज्योतिर्मठ आदि सुविख्यात तीर्थ-स्थल इसी भाग में है।

प्राचीन साहित्य मे हिमालय के जिन शिखरों का उल्लेख आया है उनमे प्रसिद्ध हैं—मेरु, सुमेरु, चौखम्भा, बन्दरपूछ, भरतखूंट, नंदागिरि, धौलागिरि, द्रोणगिरि, आदित्यगिरि, गौरीशंकर और कैलास आदि। सरिताओं में प्रमुख हैं—गंगा, यमुना और ब्रह्मपुत्र। इसके अतिरिक्त इसके वक्ष को चीरती हुई अनेक सरिताओ के उद्गमों की खोज प्रत्येक युग मे अनेकानेक साहसियो को हिमालय की ओर आकर्षित करती रही है। निश्चय ही सरिताओं और हिम-शिखरों की भव्यता ने आध्यात्मिकता की ज्योति जगायी है और उस ज्योति के कारण ही अनेकानेक तीर्थ स्थापित हुए है। लेकिन हिमालय का गौरव केवल देवता की आराधना के कारण नही है, गंगाओं के इस प्रदेश में देवता के बहाने मनुष्य ने अनुपम सुंदरी प्रकृति की पूजा का अनुष्ठान किया है। निरंतर इंद्रधनुषो का निर्माण करती सहस्रों 'सहस्र धाराओं' से युक्त इस देवदार-वनस्थली मे जब उस अदृष्ट शिल्पी का अदृष्ट हाथ, अरुण किरणों का मुकुट शाश्वत हिम से आच्छादित उत्तुंग गिरिशृंगों पर रख देता है तब प्रकृति-रूपा नव-वधू अपने सौंदर्य को अनावरण कर, त्रिलोकी को दिव्य सुषमा से आप्लावित कर देती है। तब वायु के स्पर्श-सुख से आलोड़ित सुगंधित पुष्प-द्रुम और प्रियतमा सरिता से

मिलने को आतुर निरंतर कलकल-छलछल करते हुए रजत-वर्णी निर्झर मधुर स्वर में पुकार उठते है—

> शुधू अकारण पुलके, क्षणिकेर गान गा रे।
> आजि प्राण क्षणिक दिनेर आलोके। —रवि ठाकुर

—क्षणिक दिन के आलोक में, केवल अकारण पुलक मे, हे प्राण, आज क्षणिक गीत गा।

हिमालय आयु की दृष्टि से सम्भवत. सबसे तरुण गिरिमाला है, परन्तु प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से कदाचित यह सर्वोच्च पर्वत संसार मे सर्वश्रेष्ठ है। सौंदर्य के इस सर्वश्रेष्ठ स्थल की ओर इस देशवासियों की ममता भी इसके जन्मकाल से रही है। यहाँ के मानव के मन मे यह भावना किसी-न-किसी रूप में जागृत रही है कि जीवन में अधिक नही तो एक बार अवश्य इस पर्वतराज का परस करना ही चाहिए। एक बार तो इस प्रदेश मे आकर इसके सौंदर्य से देह और देवता दोनों को सुख पहुँचाना ही चाहिए। इसीलिए सुदूर दक्षिण से लेकर उत्तराखण्ड तक आदि-मानव ने जो मार्ग बना दिया था, वह निरंतर प्रशस्त होता आ रहा है। साधु, संन्यासी, गृहस्थी, पीड़ित-प्रताड़ित अथवा सौंदर्य और सुषमा के उपासक कवि और कलाकार, वैज्ञानिक और खोजी—सभी समान भाव से इस रम्यस्थली मे ज्ञान और आनद की खोज में आते रहे है। इनमें मुक्ति के पिपासु भी थे और सौंदर्य पर शलभ की भाँति प्राण देने वाले लोलुप भी। सत्य की खोज करने वाले वैज्ञानिक थे तो योग-साधन के द्वारा ब्रह्म की उपासना करने वाले तपस्वी भी।

काका कालेलकर ने यात्रा करने के उद्देश्य की चर्चा करते हुए कही लिखा है कि जिस मनुष्य की वृत्तियाँ विकृत नही हो जाती, उसके लिए यात्रा की प्रेरणा भी स्वाभाविक है। जिस प्रकार वर्षा के शुरू होते ही सांड अपने सीगों से जमीन खोदकर उसे सूँघने लगता है, उसी तरह यात्रा का अवसर प्राप्त होते ही मनुष्य के पैर अपने-आप बिना पूछे चलने लगते है। यदि कोई उससे पूछता है, कहाँ चले तो वह कह देता है—"मैं कुछ नही जानता। जहाँ तक जा सकूँगा चला जाऊँगा। जाना, चलना, नयी-नयी अनुभूतियाँ प्राप्त करना बस, इतना ही मैं जानता हूँ। आँखें प्यासी है, शरीर भूखा है, इसलिए पैर चलते है, इससे अधिक मैं कुछ नही जानता। अर्थात् 'कालोह्य निरवधि' मानकर 'विपुला पृथ्वी' की परिक्रमा पर निकल पड़ना ही मेरा उद्देश्य है।"

जीवन की पुकार ही 'चरैवेति चरैवेति', चलना है, चलना है। सब चलते है। जीवन गतिमान है। प्रकृति मे निरंतर हो रहे परिवर्तन इस गति के साक्षी है।

नक्षत्र-मण्डल सदा चलता ही रहता है। पानी एक स्थान पर ठहरने पर दुर्गंध देने लगता है। और दूज का चंद्रमा निरंतर यात्रा के कारण पूर्ण चंद्र बन जाता है।

नाना श्रांताय श्रीरस्ति, इति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन, इन्द्र उच्चरतः सखा।।
चरैवेति। चरैवेति।।

—हे रोहित, सुनते हैं कि श्रम से जो क्लात नहीं हुआ, लक्ष्मी उसी का वरण करती है। जो बैठा रहता है, उसे पाप लील जाता है। इंद्र उसी का सखा है, जो निरतर गतिवान है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

निरतर 44 वर्ष से भ्रमण करते हुए एक जर्मन की याद आती है। शरीर से वृद्ध उस व्यक्ति के नेत्रों की ज्योति क्षीण हो रही थी, पर क्षीण नहीं हो रहा था उत्साह। मैंने कहा, "यदि यात्रा करते रहे तो एक दिन यह ज्योति समाप्त हो जायेगी।"

उन्होंने तुरत उत्तर दिया, "यदि यात्रा रुक गयी तो निश्चय ही अंधा हो जाऊँगा। नये-नये स्थानों पर जाकर नयी-नयी चीजें देखता हूँ तो ज्योति लौट-लौट आती है।"

फिर भी कुछ प्रवास-भीरू व्यक्ति तर्क करते हैं कि मनुष्य यात्रा में भटक जाता है। बधु-बांधव, परिजन-पुरजन—इन सबका स्नेह सब कहीं कहाँ मिल सकता है? ऐसे ही व्यक्ति को उत्तर देने के लिए किसी ने कहा है, "जिस स्थान पर तू यात्रा करते-करते रुक जायेगा, उसी स्थान पर कुटुम्बियो के बदले कुटुम्बी और पड़ोसियों के बदले पड़ोसी मिल जायेंगे।" जाति-भेद, ऊँच-नीच से यह देश ग्रस्त है। लेकिन इस प्रकार के सामाजिक प्रश्न यात्री को परेशान नहीं करते। उसका ज्ञान सीमाएँ नहीं स्वीकार करता। समुद्र के विस्तार को अपने अंतर में समो लेने को वह आतुर हो उठता है। उसका मस्तिष्क विस्तृत होता है और हृदय विशाल। तब ये क्षुद्र सामाजिक प्रश्न आप-से-आप तिरोहित हो जाते हैं। इसीलिए प्राचीन काल मे बारह वर्ष गुरुकुलों में अध्ययन करने के बाद तीन वर्ष देश-भ्रमण करने की व्यवस्था रहती थी।

इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति की विविधता, उसके सौंदर्य और भयानकता से जहाँ आनंद प्राप्त करता है, वहाँ उसके ज्ञान की वृद्धि भी होती है। संस्कृति के आदान-प्रदान की तरह यह प्राकृतिक आदान-प्रदान भी मनुष्य मे आध्यात्मिक शक्ति और 'सत्यं शिवम् सुंदरम्' की भावना को जगाता है। अपरिचित प्रदेशों की पुकार मनुष्य के साहस को चुनौती है। जो इस चुनौती को स्वीकार करता है, वही मनुष्य है।

यही चुनौती हमें उस देवात्मा के चरणों में बार-बार खीचकर ले जाती रही है। सकल्प होने पर दुर्गम मार्ग आनन्द की प्रतीति ही कराते है। प्रस्तुत पुस्तक उसी प्रतीति का परिणाम है। अठारह वर्ष पूर्व सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली ने 'जमना गंगा के नैहर मे' नाम से मेरा एक यात्रा-वृत्त प्रकाशित किया था। उसमें जमना-गंगा के उद्गम स्थलों की यात्रा का वर्णन था।

इसी बीच मे हमे दो बार फिर गंगोत्री-गोमुख जाने का अवसर मिला। इस बार तो (1981) हम गोमुख से दो मील ऊपर हिम-शिखरों से घिरे एक विस्तृत सम भूखण्ड सुरम्य 'तपोवन' की यात्रा भी कर सके। बहुत कुछ बदल गया है—1958 और 1981 के बीच। लंका के बाद एक मील के भूखण्ड को छोडकर शेष मार्ग पर बसें दौडने लगी है। लेकिन इसी कारण यात्रा का रोमास जैसे समाप्त हो गया हो। यायावर सुख-सुविधा की चिन्ता नही करता, क्योंकि वह जानता है कि सुख-सुविधा से आनन्द मिलता ही नही, समाप्त भी हो जाता है। बने-बनाये मार्गों पर चलने से, मार्ग खोजते चलने का अपना एक आनन्द होता है और वह आनन्द अनिर्वचनीय होता है।

बस मे जाने पर प्रकृति का वह प्यार कहाँ मिल सकता है जो पाँव पैदल चलने पर मिलता है! जब मनुष्य नगे पैर धरती पर चलता है तो माँ को उसका बेटा मिल जाता है। लेकिन इसी कारण मनुष्य सदा गुहा-मानव नही बना रह सकता। चन्द्रमा पर चरण पड़ चुके है उसके। यही द्वन्द्व जीवन है। यही द्वन्द्व इस पुस्तक के महत्व को और भी बढा देता है। 'शब्दकार' इसीलिए इसे नये रूप मे प्रकाशित कर रहा है। इस नये रूप मे विषय के साथ न्याय करने की दृष्टि से मैंने अपने को उत्तरकाशी से तपोवन तक अर्थात् गंगा की घाटी तक ही सीमित रखा है।

शेष घाटियों की चर्चा सुविधानुसार अगले खण्डो में आने की पूरी सम्भावना है। क्योकि हम जानते है कि देवात्मा हिमालय की पुकार मनुष्य की सारी प्रगति के बावजूद कभी समाप्त होने वाली नही है। हम और आगे बढ़कर उसके पास जायेंगे और उसकी छाया में प्रवेश करेंगे।

और अन्त मे मैं आभार मानूँ उन सबका जो किसी-न-किसी रूप मे इन यात्राओं का कारण बने हैं। विशेषकर गंगोत्रीवासी सुप्रसिद्ध पर्वतारोही और छविकार स्वामी सुन्दरानन्द का, जो प्रेरक ही नही, मार्गदर्शक भी रहे हैं। उन्ही के कन्धो पर चढ़ कर हमने ये यात्राएँ की है।

—विष्णु प्रभाकर

818, कुण्डेवालान,
अजमेरी गेट,
दिल्ली-110006

क्रम

खण्ड एक : उत्तरकाशी

खण्ड दो : गंगोत्री

खण्ड तीन : गोमुख

खण्ड चार : तपोवन

खण्ड पाँच : फिर मृत्युलोक

खण्ड एक
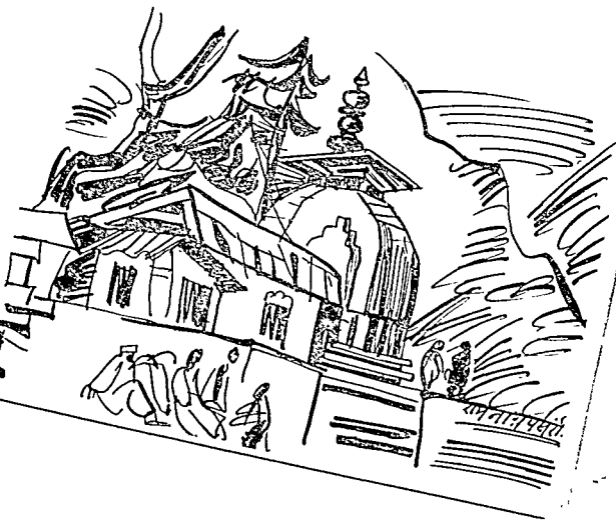
उत्तरकाशी

सौम्य काशी—उत्तरकाशी

सौभाग्यशाली है वे लोग जो देवात्मा हिमालय की पुकार सुनकर बार-बार उसकी ओर खिंचे चले आते हैं। साधन-सुविधा की कोई चिन्ता नही, मात्र सकल्प चाहिए उन्हें। यही संकल्प मुझसे छल कर गया और मैं पिछले तेईस वर्षों मे मात्र तीसरी बार इधर आ सका। पहली बार आया था मई, 1958 मे समर्थ साहित्यकारों और पत्रकारो के एक दल के साथ।[1] जमनोत्री-घाटी को पार करके हमने उत्तरकाशी के पास गगा की घाटी में प्रवेश किया था, पाँव-पैदल यात्रा करते हुए। दूसरी बार सितम्बर, 1971 में आना हुआ एक नितान्त पारिवारिक-यात्रा के रूप मे टिहरी से बस के द्वारा। तीसरी बार सीधे ऋषिकेश से पहुँचा सितम्बर, 1981 मे अकेला, बस एक मित्र के साथ।

इस कालावधि में यात्रा के साधन ही नही बदले, मनुष्य भी बदल गया, वातावरण भी वह नही रहा। अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ—सब सापेक्ष है। सब साथ-साथ आते है। सभ्यता सुख-सुविधा का कारण बनती है तो आतरिक अशान्ति का भी। सस्कृति छूट जाती है कही। यह द्वन्द्व शाश्वत है।

पहली[2] बार जब हम यहाँ पहुँचे तो सबसे पहले हमने इसके इतिहास की खोज की। इसी प्रक्रिया मे जान सके कि इसका पुराना नाम बाडाहाट है। हाट का एक अर्थ होता है राजधानी। लेकिन बाडा शब्द का क्या अर्थ है, यह अभी स्पष्ट नही हुआ। राहुलजी का मत है कि इसका सम्बन्ध गूगे (मानसरोवर) के राजाओं से रहा हो सकता है। यह किसी राजा की राजधानी है। पौराणिक परपरा के

---

1. उस दल के सदस्य थे—1-3 सुप्रसिद्ध प्रकाशन सस्था, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली के मत्री श्री मार्त्तण्ड उपाध्याय, उनकी पत्नी श्रीमती लक्ष्मीदेवी उपाध्याय (भाभी), उनका पुत्र श्री माधव उपाध्याय। 4-5 दैनिक 'हिन्दुस्तान', नई दिल्ली के सह-सम्पादक, श्री शोभालाल गुप्त (काकूजी) तथा उनकी पत्नी श्रीमती विजयादेवी (काकी)। 6. सूचना व प्रसारण मत्रालय मे तत्कालीन मत्री डॉ० बी० बी० केस्कर के निजी सचिव श्री विनायक यशवन्त घोरपडे। 7-8 'जीवन-साहित्य' के सम्पादक और सुलेखक श्री यशपाल जैन और उनकी बहन श्रीमती श्रीप्रभा जैन, तथा 9 लेखक।

2 मई, 1958

अनुसार 'किरातार्जुन युद्ध' इसी स्थान पर हुआ था। आर्यों की यह परंपरा रही है कि विजय करते हुए जैसे-जैसे वे आगे बढते गये है, वैसे-वैसे पुराने नगरो को नये नाम देते गये हैं। और उनके साथ जोड़ते गये है किसी-न-किसी रूप मे अपने सास्कृतिक इतिहास को। उषा-अनिरुद्ध की कहानी गढ़वाल में ऊखी मठ से भी सबधित है और सुदूर दक्षिण मे आन्ध्र प्रदेश से भी। राम की कथा हिमालय से लेकर दक्षिण भारत में होती हुई दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों में फैल गयी है। मलय देश की राजधानी क्वालालंपुर में हमने एक ऐसी गुफा देखी है, जिसके बारे मे वहाँ यह मान्यता है कि पांडवों ने, वनवास के तेरहवें वर्ष मे, इसी गुफा में अज्ञातवास किया था।

गढवाल के इतिहास मे उत्तरकाशी की सीमा के संबंध में लिखा है—

"टिहरी से 45 मील पर गंगोत्री के रास्ते में भागीरथी के दाहिने किनारे की कुछ समतल-सी भूमि में वह अवस्थित है। इसे सौम्य (उत्तर) काशी बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। पूर्व-दक्षिण मे गगाजी का प्रवाह है, उत्तर में असिगगा, पश्चिम मे वरुणा नदी, इसके पूर्व की तरफ़ केदारघाट, दक्षिण की तरफ मणिकर्णिका का परम पुनीत घाट है। मध्य मे विश्वेश्वर का मदिर है। गोपेश्वर, काल भैरव, परशुराम, दत्तात्रेय, जड़भरत और भगवती दुर्गा के प्राचीन मदिर भी हैं।"

इस तीर्थ की महिमा का बखान करते हुए एक पंडा ने कहा था—

"मैदान की काशी भोग-भूमि है, उत्तरकाशी योग-भूमि। कलिकाल मे यही मुक्ति मिलती है।"

नहीं जानता, यह दावा कितना सच है, कितना झूठ। लेकिन इसमें कोई सदेह नही कि अभी तक यह सुप्त नगरी के समान शान्त है। न कीर्तन है, न मदिरो से उठती हुई आरती के स्वर। ऐसा लगता है कि मानो किसी पहाड़ी युवती ने समाधि लगा ली हो। काशी विश्वनाथ का वर्तमान मदिर बहुत सादा, परन्तु सुन्दर है। इसका जीर्णोद्धार महाराज सुदर्शन शाह ने 1857 ई० मे करवाया था। उसके गर्भ-गृह मे विशाल शिवलिंग है। पार्वती, शिवशक्ति, मार्कण्डेय, साक्षी गोपाल तथा गणेश आदि देवताओं की अनेक मूर्तियां है, लेकिन उनमे कोई विशेषता नही है। फिर भी इन अगम्य प्रदेशों में काशी विश्वनाथ को पाकर धर्म-भीरू भक्तों की श्रद्धा जैसे उमड पड़ती है।

इस मदिर के प्रांगण मे और भी कई मदिर हैं। इनमे उल्लेखनीय है शक्ति का मदिर। इस मदिर में बहुत बड़े आकार का एक त्रिशूल है। पौराणिक मान्यता के अनुसार यह देवासुर-संग्राम के समय की छूटी शक्ति है। परन्तु वास्तव मे यह 26 फुट ऊँचा विशाल त्रिशूल है। नीचे पीतल और ऊपर अष्टधातु के बने इस

त्रिशूल पर शुद्ध संस्कृत मे एक अभिलेख है। राहुलजी ने लिखा है—

"यहाँ का विशाल त्रिशूल सारे गढवाल कुमायूँ में सबसे पुरानी पुरातात्विक *कृति तथा उसका अभिलेख, प्राय: सबसे पुराना अभिलेख है। लेख तीन* पंक्तियों में है। पहली पक्ति के अक्षर कुछ छोटे तथा श्लोक शार्दूल विक्रीड़ित छंद में है। दूसरी मे बड़े अक्षरों में उसी छंद का एक श्लोक है। तीसरी मे बहुत बड़े अक्षरों में स्रग्धरा है। पूरा लेख शुद्ध संस्कृत में साफ़ और सुन्दर है।

"इन श्लोकों से पता चलता है कि प्रज्ञानुरागी गणेश्वर नाम के राजा ने विश्वनाथ के अत्यन्त उन्नत मदिर का निर्माण कराया और राज्यलक्ष्मी को अणु समझकर और उसे अपने प्रियजनों को सौप कर, मंत्रियों-सहित इन्द्र की मित्रता की याद मे उत्सुक होकर, सुमेरु मंदिर (स्वर्ग या कैलास) चला गया। उसके बाद उसका पुत्र प्रतापी श्री गुह राजा हुआ। वह अत्यंत बलशाली, विशाल नेत्र तथा दृढ वक्षस्थल वाला था। सौंदर्य में मन्मथ से, दान में कुबेर से, नीति या शास्त्रो मे वेदव्यास से बढ़-चढ़ कर था। इसी ने भगवान के सामने इस शक्ति-स्तम्भ की स्थापना की थी।"

इस अभिलेख का अतिम श्लोक बहुत सुन्दर है—

"जब तक भगवान सूर्य अपनी तरुण किरणों से अन्धकार को नष्ट करते, नक्षत्रों की चित्रचर्या को मिटाकर, गगन मंडल में अपने सिन्दूरी तिलक को लगाते रहे, तब तक प्रतापी राजा गुह की यह कीर्ति सुस्थिर रहे।"

त्रिशूल की ऊपरी मोटाई 1 फुट 15 इंच, नीचे की 3 फुट 9 इंच, ऊँचाई 26 फुट है। जिस लिपि मे यह अभिलेख लिखा गया है, वह ईसा की छठी-सातवीं सदी की मानी जाती है। इसी लिपि में [illegible] का अभिलेख है। यह लेख भी त्रिशूल पर अंकित है।

परशुराम का मंदिर भी अच्छा है। इसमें [illegible] की मूर्ति है। [illegible] भूमि तथा दायें-बायें पार्श्व में [illegible] की मूर्तियाँ हैं। इसी के निकट [illegible] का मदिर है। लेकिन यह मदिर [illegible] है। [illegible] की पूजा होती है, वह [illegible] है—

महाराज जयपुर का बनवाया हुआ एकादश रुद्र का मंदिर भी सुन्दर है। अन्नपूर्णा के मदिर की मूर्ति अति आधुनिक जान पडती है। देखने के लिए भैरव, गोपेश्वर, आद्य शकराचार्य, भगवान रामचन्द्र, कालि, केदार तथा अम्बिका देवी के मंदिर भी है। लेकिन उनका महत्व यात्रियों से अधिक पंडों के लिए है। धर्मभीरू व्यक्तियो की श्रद्धा पर डाका डालकर अर्थोपार्जन के नाना मार्ग वे खोजते रहते हैं। अधिकांश मदिरों की देखभाल तक नही होती। किसी तरह की व्यवस्था नही है। बस, यात्रियों को देखकर इधर-उधर से बच्चे पैसे माँगने के लिए आ जाते हैं।

सुना था, उत्तरकाशी मे साधु बहुत रहते हैं। मधुकरी के लिए प्रतिदिन वे लोग प्रात. आठ बजे से लेकर दस बजे तक काली कमलीवाले की धर्मशाला मे तथा दूसरे सदाव्रतो मे आते हैं और भोजन करके अपनी-अपनी कुटियों में लौट जाते है। नगर के बाहर गंगा के किनारे-किनारे उनकी कुटिया बनी हुई है। उनमे से कुछ साधु अपनी विद्वत्ता और तपस्या के कारण प्रसिद्ध हैं। पहले दिन जब हम लोग धर्मशाला मे पहुँचे तो अधिकाश साधु जा चुके थे। दूसरे दिन राँची के सेठों ने भडारा किया था, इसलिए हम लोग उत्साहपूर्वक ठीक समय पर पहुँच गये। देखा, पगतो मे अनेक साधु बैठे हुए है। उनमे से अधिकांश नितान्त निष्प्राण और निस्तेज है। कुछ नागा भी हैं। उनकी आकृति और भोजन करने का ढग सब प्रभावहीन है। साधना की मस्ती छिपी नही रहती। बड़ी विरल है। यहाँ तो संसार से पलायन करने वालों की सख्या ही कुछ अधिक है, मानो गेरुआ वस्त्र धारण करके किसी तरह भोजन पा लेना ही इनका इष्ट हो।

मन को अच्छा नही लगा, पर सुना था कि जो अच्छे साधु हैं वे सदाव्रत लेने कही नही जाते। उनके लिए भोजन वही पहुँच जाता है। स्वामी आनन्द, ब्रह्मस्वरूपानन्द, फलारी बाबा, स्वामी प्रज्ञानाथ तथा स्वामी विष्णुदत्त उनमे प्रमुख है। इनमे भी स्वामी विष्णुदत्त सबसे विख्यात माने जाते है। इसलिए मन मे उनके दर्शन करने की उत्कंठा पैदा हो जाना स्वाभाविक था। नगर से दो मील भागीरथी के तट पर उनका आश्रम है। वही पहुँचे हम लोग। उस समय वह भागीरथी के हिम जैसे शीतल जल मे खड़े सूर्य को अर्घ्य दे रहे थे। हम लोग तटवर्ती एक शिला पर बैठ गये। वर्ण श्यामल, वक्षस्थल पुष्ट, नेत्र रक्तिम और शरीर का रुझान स्थूलता की ओर है। आयु होगी लगभग 70, परन्तु वैसे कुछ लोग बताते हैं कि वह 110 वर्ष के हैं। सदा नग्न और दिन के अधिक भाग मे मौन रहने वाले यह साधु निवृत्ति मार्ग के हठयोगी हैं। सवेरे दो घटे, दोपहर मे तीन घटे, साँझ पड़े एक घटा, वेगवती भागीरथी के हिम जल में खड़े होकर सूर्य की उपासना करते है।

सहसा उनकी दृष्टि हमारी ओर मुड़ी। उस क्षण उनके हाथ और होठों की

गति तीव्र हो उठी। लगा, जैसे हम उनकी एकाग्रता मे व्यवधान का कारण बन रहे हैं। उठ आये वहाँ से। मौन वह दो बजे के बाद छोडते है। पहले कुछ समय के लिए गंगोत्री चले जाते थे, परन्तु इधर कही नही जाते। बड़ी इच्छा थी कि उनसे बातें करें। सामूहिक साधना के इस वैज्ञानिक युग में इस व्यक्तिगत हठयोग क्या महत्व है? यह आत्मसमर्पण किसके प्रति है, किस उद्देश्य से है—यह हम उनके शब्दों में जानना चाहते थे। साधना तो प्रयत्न और श्रद्धा का योग है, परन्तु फिर भी उनकी मुखाकृति पर स्पष्ट देख सका कि भीतर कही शंका नही है। है केवल अपने पथ के प्रति अटूट आस्था।

वायु का वेग यहाँ सहसा तीव्र हो उठता है। आँधी, तूफान, वर्षा कल भी खूब आये थे। आज भी प्रकृति का रूप अत्यत उग्र रहा। बारह बजते-न बजते धुआँधार वर्षा आरंभ हो गयी। रात तक होती रही। ऊपर भी तूफान इसी तरह आता रहा तो...सोच ही रहे थे कि गगोत्री से लौटे हुए एक मारवाड़ी सज्जन से भेंट हो गयी। उन्होंने और भी आतंकित कर दिया। बोले, "साहब, पहाड़ के ऊपर चढना पड़ता है, साँस फूलती है। ऊपर से गिरें तो बस, नीचे ही आते हैं। और साहब, पहाड़ टूटे हैं। पत्थरों पर पैर टिकता नहीं...।"

शब्दों से अधिक उनकी अभिव्यक्ति की भाव-भंगिमा में आतंक था, इतना कि वह हास्यास्पद होकर रह गये—'दर्द का हद से गुज़र जाना है दवा हो जाना।' मार्ग मे जहाँ कही भी पानी पीते तो उनकी याद आ जाती। नीचे की ओर देखकर कहते, "क्यों भाई, ऊपर से गिरें तो बस नीचे ही क्यों आते हैं, ऊपर क्यों नही चढते?"

कोई नवयुग का न्यूटन ही इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है। लेकिन हमे तो सोने से पूर्व काफी काम निबटाने है। मन उदास-उदास है। पैर का कष्ट इसका कारण नही है। कारण है नितांत वैयक्तिक। इसलिए उस उदासी को तल पर न जाने देने की प्राण-पण से चेष्टा करता रहा। दल मे व्यक्ति गौण हो रहता है।

यही सोचता-सोचता सो गया। दो दिन से पलँग पर सोना होता है। शरीर सुख मानता है। सवेरे उठा देने का भार अभी भी घोरपड़े जी पर है। बीस की संख्या से उन्हें विशेष प्रेम है। अकसर तीन-बीस पर उठ बैठते है और फिर किसी को नही सोने देते। शुक्र है, चार-बीस से उन्हें कोई मोह नही है।

पडे हर कही मिलते है। नाम लिखने के लिए उनका आग्रह रहता है। पर हम अब तक उनको टालते ही आये हैं। यहाँ भाभीजी के आग्रह पर वह प्रतिज्ञा तोड़नी पडी। पीताबर पाडे विजयी हुए। दक्षिणा पाकर उन्होंने अपनी बही में हमारा नाम भी अंकित कर लिया। शायद कभी कोई वंशधर आये तो जान लें कि उनके पुरखा भी यात्री रहे हैं। सोने के लिए लेटे तो वर्षा हो रही थी। लेकिन सवेरे जब घोरपड़े जी का मधुर-मादक स्वर कानों में पडा तो उठकर देखा—

पाते है ? अनुभव कर पाते है इसकी पीड़ा को ?

क्षण भर पहले जो परम-सुख में जी रहे थे वे ही दूसरे क्षण असहाय शरणार्थी बन गये। पशु बच पाये थे, क्योंकि वन में चरने गये थे।

आज ही सीताधर भाई से भेंट हुई। स्वामीजी और गंगारामजी गये उस महानाश को देखने। बहुत कुछ किया, बहुत कुछ होगा, पर प्रियजन नहीं लौटेंगे कभी। जीवन-भर सालती रहेगी यह मर्मान्तक पीड़ा। हो सकता है, जीविका की तलाश में यह प्रदेश भी छोड़ना पड़े उन्हें। अनेक कारणों से अनेक लोग छोड़ रहे हैं। खाली और उजाड़ हो रहे हैं गाँव। बहुत कुछ टूट रहा है, बाहर और भीतर। कितनी समस्याएँ हैं मोहक सौन्दर्य के इस भूखंड में !

प्रकृति सुन्दर ही नहीं, क्रूर भी होती है। क्रूरता और सौन्दर्य की इसी सीमा-रेखा पर खड़ा है मनुष्य, दोनों को सहेजता, दोनों को जीता...।

कवि ने स्वयं इसी द्वन्द्व को शब्दों में बाँधा है—

जब वज्र गिरते, पहाड़ धँसते
          और झीलें फूटती हैं
बादल दिशाएँ उजाड़ देते है
बिना मुँह बिना दाँतों की नदियाँ
किनारे खा जाती हैं
शहरों, गाँवों और मवेशियों को डकार जाती हैं
मगर जिस पर हम फिर से
शुरू करते है जिन्दगी।[1]

सोचते-सोचते न जाने कब नींद आ गयी, सपने में प्रकृति और पुरुष के संबंधों की टोह लेने के लिए।

पर ले सका कोई ?

फिर ग्यारह वर्ष[2] बीत गये। स्वामी सुन्दरानन्द जी के बार-बार आग्रह करने पर भी इधर न आ सका। अब आया भी हूँ तो मन पर भार है। पिछली यात्राओं के कई साथी बिछुड़ गये हैं। रह गयी है उनकी स्मृतियाँ। बहुत तेजी से प्रगति कर रहे है हम। आकाश हमारे चरणों में है, पर उस पार से डाक-तार की व्यवस्था हो सके ऐसा कोई आविष्कार हम नही कर पाये अभी। इसलिए किसी को साथ लेने का मन नहीं था, पर सुख-दुख बाँटने वाला कोई साथ न हो तब भी

1. घबराये हुए शब्द, पृष्ठ 55

2. 27 सितम्बर, 1981

मन व्याकुल हो उठता है। एक वयोवृद्ध मित्र[1] साथ आये हैं, जितने धर्मभीरू है उतने ही उत्साही भी।

दस दिन ऋषिकेश में रुकना पड़ा। वह रुकना त्रासदायक था। स्वामी जी एक मित्र के साथ गंगोत्री से कालिन्दी हिमधारा (19,510 फुट) पार करके बद्रीनाथ आने वाले थे। वहाँ से ऋषिकेश होकर हमारे साथ चलना था उन्हें, पर वे समय पर नहीं पहुँचे। 'अतिस्नेही पापशकी' क्या-क्या न सोच गया पापी मन! फिर भी आशा बनी रही। शायद देर से चले होंगे। हम उत्तरकाशी में राह देखेंगे उनकी।

इतने दिन तक भरत मंदिर के महंत जी के आतिथ्य का लाभ उठाकर हमने सवेरे साढे चार की बस ली और ग्यारह बजे के कुछ बाद यहाँ पहुँच गये। मार्ग में स्मृतियाँ झकझोरती रही। बहुत कुछ बदल गया था इन वर्षों में, विशेषकर 'मनेरी भाली हाइडल प्रोजेक्ट' के कारण। नयी-नयी बस्तियाँ, नये-नये पथ-घाट। जीवन और समृद्धि के साथ शोर और धुआँ भी था। विशेषकर उत्तरकाशी मे। गंगोत्री यात्रा का मुख्य द्वार होने का श्राप भोग रही है यह तीर्थ-नगरी। भीड़, उपेक्षा, व्यापार, अस्वच्छता मन की भी, तन की भी। भीड़ बढती है, संवेदन घटता है।

वर्षा ने हमारा स्वागत किया, लेकिन बिड़ला धर्मशाला का व्यवस्थापक बात ही नहीं करना चाहता। चौकीदार अधिकार भरे स्वर में पूछता है, "दिल्ली से चिट्ठी लाये हो? नहीं लाये, तब एक कमरा है नीचे। सध्या तक दस-बारह व्यक्ति और आ सकते है उसमे।" एक ब्लैक होल ने इतिहास बदल दिया था। यहाँ पग-पग पर ब्लैक होल है। शौचालय का उपयोग कोई जीवन-मुक्त योगी ही कर सकता है। सरकारी यात्री-निवास में स्थान नहीं है। एक मित्र की याद आती है। वे भी बाहर गये हुए हैं। इसी भटकन में आशा की एक किरण चमक उठती है सहसा। हाइडल प्रोजेक्ट के जिन बड़े इंजीनियर श्री डी० पी० शर्मा की तलाश थी हमें, वह अचानक स्वयं आ टकराते हैं हमसे। भटयारी से सामान लेने आये हैं। परिचय पाकर तुरन्त अपने स्थानीय डाक-बँगले में प्रबंध कर देते हैं।

कई मानव-निर्मित बाधाओं को पार करने के बाद अंततः हम अपने को एक सुनियोजित और स्वच्छ कॉलोनी के सुन्दर डाक बँगले में पाते हैं। छोटे इंजीनियर सैनी साहब तो इतने सहृदय हैं कि चाय ही नहीं, खाना भी खिलाते हैं हमे। परिचय और अपरिचय की सीमा-रेखा कितनी छलिया है!

घिरती आ रही रात्रि के अंधकार में उस अस्वच्छ नगरी को ऊपर से देखने पर परिलोक का भ्रम होता है। भागीरथी से निरंतर उठता कल-कल नाद, हरी-

---

1. भारत सरकार के वित्त विभाग के अवकाश-प्राप्त डिप्टी सैक्रेटरी श्री मदनलाल गुप्त।

तिमा से आवेष्टित तुंग शिखर, अंधकार में चमकते शिशु ज्योति-पुंज। निरभ्र आकाश में बिखरे नक्षत्र मंडल—यही सब देखते गगनचुम्बी देवदार मौन-मुग्ध खड़े रह गये है। एक ओर प्रकृति का यह रूप वैभव, दूसरी ओर भीड़ की मानसिकता। द्वन्द्व से कहीं मुक्ति नहीं।

द्वन्द्व मेरे अन्तर में भी है। *लेकिन मेरे आस्थावान साथी ध्यानस्थ हैं।* मैं उसी आस्था की तलाश करता-करता न जाने कब सो रहता हूँ।

रात[1] निश्चय किया था कि वह स्थान बहुत ऊँचाई पर है। वाहन के अभाव में बहुत कष्ट होगा, बार-बार नीचे-ऊपर आते-जाते। नीचे किसी आश्रम में स्थान खोजा जा सकता है। साथी का इस क्षेत्र में परिचय और प्रभाव दोनों हैं। रात-भर यही स्वप्न देखता रहा, पर जब आँख खुली तो बाहर सब कुहर में ढँका था और वर्षा हुए जा रही थी।

चाय पीने और नीचे उतरने में बहुत समय लग गया। अधिशासी अभियन्ता के कमरे में फिर राह देखनी पड़ी। कहीं व्यस्त हो गये थे वे। राह देखने की पीडा कितनी त्रासदायक होती है! काश! कोई अलिफ़ लैला का कालीन उडता हुआ आये और हमें दिल्ली पहुँचा दे...!

देर से सही, वे आये और हमने प्लांट देखा। समझा कि मैग्नेटिक फ़ील्ड और कन्डक्टर के योग से कैसे बिजली पैदा होती है, कैसे ताम्बे की छड़ों में सुरक्षित रहती है। भीमकाय नाना रूप यंत्र देखे। वह टनल देखी जिसमें से हो कर नौ मील दूर मनेरी से पानी आयेगा...ऋषियों के तपोवन में मयदानव की प्रतिभा मनुष्य को सुखी बनाने को कैसे आतुर है...लेकिन आश्चर्य! ऋषियों ने मयदानव की प्रशंसा करने में कोई कजूसी नहीं की, पर उसे ऋषि कहकर नहीं पुकारा कभी।

वर्षा नहीं रुकती, पर मेरे साथी और सैनी साहब कैलाश आश्रम में एक कमरा पाने में सफल हो जाते है। न सही डाक-बँगले का ऐश्वर्य, पर भागीरथी का सान्निध्य तो है। गंगोत्री के मार्ग पर नगर से दूर, सागर में लय होने को आतुर व्याकुल गगा को और उस पार हरीतिमा से आवेष्टित पर्वतमाला को देखते बैठे रह सकते हैं दिन-भर। उनके बीच में मानो डिठोनों की तरह यहाँ-वहाँ फैले हैं खेत और घर। *अचानक कुहरा उनको लील लेता है। कौन तपस्वी* रहता है उन एकाकी मकानों में? काश मैं रह पाता...!

पथ-घाट भीगकर भी सूने नहीं हैं। कभी-कभी बस-कार-जीप का शोर उठ कर भागीरथी के नाद में लय हो जाता है। साथी भागीरथी-स्तवन का पाठ कर रहे है। मैं लिख रहा हूँ। दिन बीत रहा है कि घंटी बज उठती है। साथी उठते

---

1. 28 सितम्बर, 1981

हैं, "आओ चलें। भोजन का समय हो गया।"

आश्रम के सहकारी रसोईघर में उड़दी-आलू के गरम-गरम रसे में रोटी भिगोकर खाने का अपना आनन्द है। लेकिन आरती में शामिल होने का आनन्द मुझसे दूर ही रहा। स्तवन-पाठ सुना, परिक्रमा की, प्रसाद भी लिया, पर मैं नहीं था वहाँ, मेरे साथी थे। वे भी अद्वैत वेदान्त के उपासक हैं—'समाने-समाने होय प्रणयेर विनिमय।' रात को दूध पीते-पीते उन्होंने कहा, "सवेरे मेरे पेट के नीचे के हिस्से में बहुत कष्ट हो रहा था, पर बाकी शरीर जैसे प्रभु के क़ब्ज़े में हो, जैसे प्रभु समा गये हों उसमें। मैं रो पड़ा। बाद में मेरा पेट साफ़ हो गया। मुझे विश्वास है, मैं गोमुख पहुँचूंगा...।"

स्वामीजी नहीं आये, पर प्रकृति के रूप वैभव और यान्त्रिक सभ्यता के सम्भावित ऐश्वर्य की कल्पना ने जो अनुभूति दी उसका मूल्य क्या नहीं आंका जायेगा ! कैसा सुख पहुँचा रहा है इस विराट मौन में भागीरथी का स्वर-घोष ! समताल-लय पर जैसे सब कुछ संगीतमय हो...संगीत नींद को भी आकर्षित करता है।

आज[1] निश्चय किया कि आगे बढ़ने से पूर्व जितने देख सकें उतने मन्दिर-आश्रम देख लें और साधु-सन्तों से मिल लें। वर्षा देर से रुकी। दस बजे के बाद ही नगर में जा सके। मन्दिरों में मुख्य है काशी विश्वनाथ का मन्दिर। उसमें स्थापित शिवलिंग स्वयं प्रगट हुआ है, ऐसी मान्यता है। शेष मन्दिर तो बस श्रद्धा पर डाका डालने का साधन मात्र है। दत्तात्रेय की मूर्ति न जाने कहाँ चली गयी ! ऐतिहासिक त्रिशूल को शिवशक्ति के रूप में पूजा जा रहा है। इस प्रकार ढँक दिया है उसे कि लेख पढ़ना सम्भव ही नहीं रहा। पहले वाली गरिमा अब नहीं है यहाँ।

स्वामी जी की आज भी कोई सूचना नहीं है। कब परदा उठेगा इस रहस्य पर से—सोचते-सोचते लौट आते हैं। आस-पास घूमते हैं। तीन बजे स्वामी निसंश्रयानन्द जी से मिलने आते हैं। पूर्वाश्रम में चार्टर्ड एकाउन्टेंट थे। अब गंगा-तट पर रहकर अध्ययन-अध्यापन करते हैं। अद्वैत वेदान्त के पंडित हैं। मानते हैं, *संसार मिथ्या है। पत्नी मुक्ति-मार्ग की बाधा है (मैंने प्रतिवाद किया तो उन्हें* अच्छा नहीं लगा। बार-बार अप्रसन्नता प्रगट हुई उनके लगभग डेढ़ घंटे के भाषण में)। इसमें संदेह नहीं, वे प्रभावशाली वक्ता हैं। ज्ञान पर अधिक जोर है उनका। निष्काम कर्म को मुक्ति का कारण नहीं मानते। मात्र चित्तशुद्धि होती है उससे। परंपरागत भाषण-शैली का प्रयोग करते हुए उन्होंने कहा, "मन से

1. 29 सितम्बर, 1981

जहाँ होंगे वहीं होंगे हम। रामकृष्ण परमहंस के दो शिष्य थे। एक कीर्तन मे गया, दूसरा वेश्या के पास। पहला शिष्य सोचता रहा, 'अहा ! मेरा साथी तो आनन्द लूट रहा होगा। मैं कहाँ आ फँसा इस पाखड में !' दूसरा सोच रहा था, 'मेरा मित्र ईश्वर के गुणगान सुन रहा होगा। मैं कितना अभागा हूँ कि पाप-पंक मे आ पड़ा !' इनमे धर्मात्मा कौन है ? वही न जो मन से ईश्वर के पास है।"

युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण का दृष्टान्त देते हुए बोले, "पीछे मत देखो, भीम से युधिष्ठिर ने यही तो कहा था।...सभी आनन्द की खोज मे है—वेश्यागामी, लेखक, अफ़सर, व्यापारी, पर वह आनन्द वास्तविक नही है। सब-कुछ त्याग कर यहाँ गंगा तट पर हिमालय की गोद मे आकर प्रभु की शरण लो। आज वैज्ञानिक जुपीटर पर आक्रमण कर रहे है। क्या होगा, कितने सोलर सिस्टम हैं इस ब्रह्मांड मे !"...मेरे साथी की धार्मिक प्रवृत्ति से वे बहुत प्रसन्न हैं। बोले, "आपको देखते ही पहचान गया था कि आपमे स्पार्क है। आप 'योगवाशिष्ठ' पढ़िये। मैं किसी से नही मिलता। आपसे मिला, क्योंकि आप मे विशेषता देखी।"

मेरी ओर देखा, बोले, "आपका नाम क्या है।"

मैंने बताया, "विष्णु प्रभाकर।"

बोले, "अपने नाम के अनुरूप बनें।"

उनसे विदा लेकर हम दडी स्वामी के पास गये। प्रथम दर्शन मे वे विनम्र और सौम्य लगे। पूर्वाश्रम मे, सुना, जिलाधीश थे। दक्षिण के हैं। हमारे लिए चटाई बिछायी। स्वयं धरती पर बैठे। धरती पर ही बैठते-सोते हैं। वे भी निवृत्ति मार्ग के उपासक है। किसी प्रसग मे स्वामी चिन्मयानन्द के लिए उन्होने कहा, "वे तो धन इकट्ठा करने में लग गये है।" बोले, "सब-कुछ उसने निश्चित कर दिया है। उसके कहने पर होता है सब कुछ। कृष्ण अर्जुन से यही कहते है, 'निमित्त मात्र भव, सव्यसाचिन्'।"

मैंने शका प्रगट की, "कुछ व्यक्ति इस तर्क का दुरुपयोग करते है। डाका डाल कर डाकू या हत्या करके हत्यारा यही कहेगा, प्रभु की यही इच्छा थी।"

वे बोले, "ठीक है। फांसी के तख्ते पर ऐसा कहे तो जानें।"

वे जैसे सौम्य हैं वैसे ही अल्पभाषी भी। स्वयं नही बोलते। लेकिन बाद में इनके बारे में भी बहुत कुछ अप्रिय सुनने को मिला। सत्य जानने का मार्ग हमारे पास नही है। एक-दो बार किसी से मिलकर किसी के बारे में राय बनाना भी विडम्बना मात्र है। एक और कठिनाई यह भी है कि किसी के बारे मे राय बनाते समय हम उन पर अपने मानक लाद देते है और परिणामस्वरूप एक गलत तसवीर अंकित हो जाती है उनकी हमारे मन पर।

शिवाश्रम मे जो साधु मिले वह स्वामी सुन्दरानन्द जी के परम मित्र हैं, बोले, "अब उन्हे ऐसी संकटपूर्ण यात्राएँ नही करनी चाहिए। पर डरिये नही, वह भटकेंगे

नहीं। फिर भी हिमखण्ड का क्या भरोसा !" वह स्वामी जी की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति और पकड़ के बड़े प्रशंसक हैं।

लौटते समय बहुत कुछ घुमड़ता रहा मन में, 'पीछे मत देखो', पर सुशीला को मैं नहीं भूल पा रहा। युधिष्ठिर संसार त्याग चुके थे, मैं उसी के बीच में हूँ। इसीलिए उसकी स्मृति मुझे बल भी देती है, तोड़ती भी है। मेरा स्वार्थ जुड़ा है न उससे। फिर भी मैं भागता नहीं, दौड़ता ही रहता हूँ निरन्तर नये की खोज में।

फिर वही यंत्रवत भोजन, आरती, पाठ और प्रसाद का क्रम। आज पुस्तक लेकर उनका साथ देने की चेष्टा की, पर वह भी यांत्रिक था। मात्र शब्द पकड़ पाता था, अर्थ छूट जाता था। मन कहीं और था न।

वर्षा रात में साढ़े आठ पर रुकी। सन्नाटा है मेरे चारों ओर और अन्धकार भी, पर आकाश में तारे झिलमिलाने लगे हैं और उस पार कुहर को चीर कर प्रकाश-पुंज ऐसे दीप्त हो रहे हैं जैसे कष्टों के बीच सुख की अनुभूति।

आज यह निश्चय करके सोते हैं कि कल आगे बढ़ जाना है। लेकिन सोने से पूर्व मैं अपने साथी से लेकर स्वामी तपोवनम् जी महाराज की पुस्तक **हिमगिरि विहार** पढ़ता हूँ। कितना बदल गया है यह प्रदेश इन पचास वर्षों में ! स्वामी जी के अनुसार यह पर्वत प्रदेश पुराण-प्रसिद्ध बाल खिल्यादि ऋषियों तथा श्रुति-प्रसिद्ध नचिकेता की तपोभूमि रहा है। पूर्वकाशी (वाराणसी) और उत्तरकाशी की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है, "यदि पूर्वकाशी नागरिकता और आडम्बर में मग्न भारत का एक बड़ा नगर है तो उत्तरकाशी बिलकुल अनागरिक अनाडंबर और पुरानी परम्परा में ही विराजमान शुद्ध सात्विक हिमालय का एक छोटा-सा ग्राम है। पूर्वकाशी के विश्वनाथ यदि जनता की निबिड़ता, कोलाहल तथा पुष्पवृष्टि से सदा पीड़ित है तो उत्तरकाशी के विश्वनाथ जनशून्यता, नि शब्दता में निर्विक्षेप सर्वदा आनन्द समाधि में लीन विराज रहे हैं। पूर्वकाशी के सन्यासी यदि बड़े-बड़े आस्थानों पर बैठे विक्षेप-बहुलता के कारण एक अशान्त जीवन बिता रहे है तो उत्तरकाशी के यतीन्द्र पहाड़ी गुफाओं एवं छोटी-छोटी कुटियों में रहते हुए समाधि-युक्त शान्त जीवन व्यतीत कर रहे है।"

पूरे विश्वास के साथ आज मैं कह सकता हूँ कि यह अन्तर अब लगभग मिट गया है। उत्तरकाशी पूर्वकाशी के पदचिह्नों पर तीव्र गति से आगे बढ़ रही है।

एक और दिन[1] का आरम्भ हुआ। चार बजे हैं। साथी प्रतिदिन साधना करते हैं। मैं नास्तिक देखता रहता हूँ प्रकृति को, या लिखता रहता हूँ। घूमने दोनों साथ निकलते हैं। आज भी निकले। देखा, दिल्ली से आयी दो बसें खड़ी हैं। तुरन्त

---

1. 30 सितम्बर, 1981

चालक के पास पहुँचे। पूछा, "क्यों भाई ? कोई स्वामी जी तो नहीं आये आपकी बस मे ?"

मैं नही जानता, उसने क्या उत्तर दिया, क्योंकि तब तक मेरी दृष्टि नगर की दिशा मे उठ गयी थी और उधर से स्वामी सुन्दरानन्द मुसकराते हुए आ रहे थे। मैंने आँखें झपकायी। फिर अपने को चकित करता हुआ खुशी से चिल्ला उठा, "गुप्ता जी ! स्वामी जी आ गये।"

बस उस क्षण से सब कुछ बदल गया। अंधकार ज्योतिर्मय हो उठा। अब कोई भय नही, कोई शका नही।

चाय पीते-पीते उनकी कहानी सुनते रहे। जिन बन्धु को कालिन्दी हिमधारा पार करके बद्रीनाथ जाना था वे नन्दनवन भी पार न कर पाये, डर गये। आगे बढने से इकार कर दिया। उन्हें वापिस गोमुख छोड़ने आना पड़ा। फिर अकेले आगे बढ़े। बद्रीनाथ पहुँचने पर पाया कि ऋषिकेश का मार्ग चट्टान खिसक जाने के कारण अवरुद्ध हो रहा है। ये ही कारण थे देर होने के।

उनके साथ फिर शिवानन्द-आश्रम गये। स्वामी अखण्डानन्द जी से मिले। वह 'आवारा मसीहा' पढ़ चुके हैं। बडे प्रसन्न हुए। बोले, "हमारे महाराज के लिए भी लिखिये न ऐसा ही।"

नगर मे यहाँ के एस० डी० एम० श्री शंकरदत्त जोशी से मिले। बड़े श्रद्धालु और अध्ययनशील व्यक्ति हैं। उपनिषद् के अँग्रेजी अनुवाद पर आग्रहपूर्वक कुछ लिख देने को कहा। फिर हमारे कार्यक्रम को लेकर व्यस्त हो उठे। गंगोत्री का मार्ग बीच मे टूट गया है। ठीक होने मे एक-दो दिन लग सकते है। छोटी जीप जा सकती है। स्वामी जी के एक मित्र है सरदार करतारसिंह। उनकी जीप है। वही जा रही है। विशेष अनुमति मिल गयी उसे।

जाने से पूर्व पजाब नेशनल बैंक के मैनेजर श्री सत्यप्रकाश शर्मा के घर भोजन किया। बच्चे थे, उनका जैसा प्रमिल स्वभाव, वैसी ही स्वादिष्ट खीर। स्वामी जी के माध्यम से सब मुझ से परिचित है। बाज़ार मे भी कई मित्रों से मिलाया। अन्त मे आश्रम मे सबसे विदा ली और साढ़े बारह बजे हमारी जीप खुशी-खुशी गगोत्री के मार्ग पर आगे बढी। हर सुरंग के बाद प्रकाश होता है।

शुभास्तु पन्थान.।

खण्ड दो

गंगोत्री
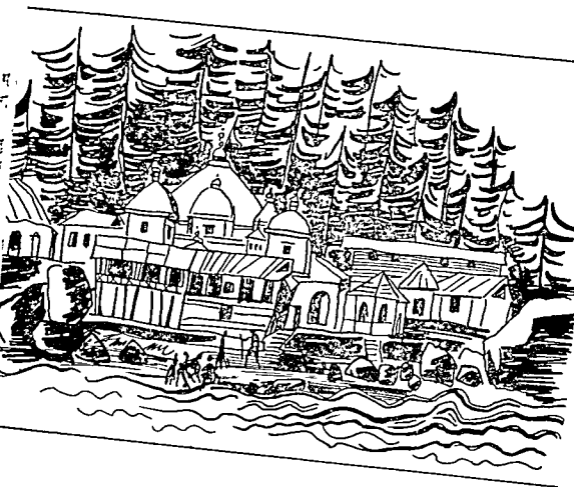
गंगोत्री के मार्ग पर

जब पहली बार मई, 1958 में इस मार्ग पर आया था तब छह दिन लगे थे उत्तर-काशी से गंगोत्री पहुँचने में, आज छह घंटे में पहुँचा जा सकता है। विज्ञान आगे बढ़ता है, समय सिकुड़ता है। मनुष्य समृद्ध होता है, लेकिन मनुष्य का मन ? परिवेश और प्रकृति का सान्निध्य...फिर वही द्वन्द्व।

उसी द्वन्द्व से साक्षात्कार कराने के लिए मैं आपको गंगोत्री के उस पथ पर ले चलता हूँ जिस पर 23 वर्ष पूर्व हमने अपने चरण-चिह्न अंकित किये थे।

सवेरे[1] ठीक पाँच बजे हमारा दल गंगोत्री की ओर अग्रसर हुआ। साढ़े नौ मील पर मनेरी चट्टी हमारा लक्ष्य था। जीप का मार्ग है। कुछ ही दिनों में इस मार्ग पर भी बस चलने लगेगी। पक्की सड़क के लाभ को पहाड़ी मजदूर भी जानता है। उसने कहा था, "इनके बन जाने से आने-जाने में दिक्कत नहीं होगी। बीमार आदमी जो अस्पताल पहुँचने से पहले ही मर जाता था, अब वहाँ पहुँच तो सकेगा।"

ढाई मील आगे उसी ओर भागीरथी का संगम है। उसके बाद दृश्य अत्यन्त रमणीक हो उठते हैं। नीलवर्णी, क्षीणकाय, परन्तु गंभीर यमुना के विपरीत एक स्वस्थ सुन्दर और मांसल पर्वत-कन्या के समान कालिदास की यह तरंगा, कुरंगा गंगा ऐसी उछलती-उमगती चलती है कि दृष्टि थकती ही नहीं। कैसा है यह कलकल निनाद, मानो अंतर की उमग स्वर्गीय संगीत के रूप में विश्व में तरंगित हो उठी हो !

नमस्तेऽस्तु गंगे त्वदग प्रसंगाद भुजंगास्तुरंगाः कुरंगाः प्लवंगाः।

मार्ग में कई बार रुक कर हम लोग चाय पीते और अपने नियम के अनुसार यशपाल जी सहज भाव से चाय वाले का नाम पूछ लेते। लेकिन मनेरी के मार्ग पर उन्हें न जाने क्या सूझा कि एक दुकानदार से उसकी पत्नी का नाम पूछ बैठे।

---

1 31 मई, 1958

बेचारा भोला-भाला युवक लजाकर अन्दर चला गया। सोचा होगा, भला यह भी कोई पूछने की बात है ! लेकिन यशपाल है हठी। दो-तीन और भी व्यक्ति वहाँ बैठे थे। उनसे बोले, "अरे, इसमें लजाने की क्या बात है ? अच्छा तुम बताओ।"

उसने हँसकर कहा, "मेरी स्त्री का नाम तुलसा है।"

दूसरा बोला, "जय माँ।"

तीसरे से पूछा तो बोला, "बीबी का नाओं।"

और वह अन्दर चला गया। फिर लौट कर नहीं आया। चौथे व्यक्ति ने हमें गौर से देखा, मुसकराया, "न जाने किस शहर के पंछी हैं !"

आठवें मील पर पहुँच कर पाया कि वर्षा के कारण पहाड़ का एक भाग टूट गया है और आगे का मार्ग अवरुद्ध है। पार्वत्य प्रदेशों में इस प्रकार की घटनाएँ बहुत सहज हैं। उन पर से फिसल पड़ना भी उतना ही सहज है। हम लोगों ने बड़ी सावधानी से उस भयंकर रास्ते को पार किया और मनेरी पहुँच गये। एक ऊँची चट्टान पर डाक-बँगला बना है; ठीक नीचे छोटी-सी चट्टी है। सौभाग्य से उस दिन डाक-बँगला खाली था। वहीं से प्रकृति को देखा। देखता रह गया—चारों ओर चीड़ के मनोरम वृक्षों से सज्जित पर्वतमाला शोभायमान है। सामने है मेघाच्छन्न शाश्वत हिमशिखर, नीचे से निरन्तर कलकल-नादिनी का संगीत उभर रहा है। बाईं ओर के पर्वत पर क्रम से बसे हुए तीन गाँव एक-दूसरे के ऊपर मानो पाताल, मृत्यु लोक और स्वर्ग के प्रतीक हों।

किनारे पर पड़ी एक शिला पर जा बैठा और दूरबीन से मनुष्य की खोज करने लगा। सहसा पुकार उठा, "अहा ! वह देखो, ऊपर के गाँव में एक नारी धान कूट रही है। कैसा सुन्दर है यह दृश्य। तीव्रगामिनी भागीरथी के किनारों को छूते हुए पहाड़ ऊपर-ही-ऊपर उठे चले जा रहे हैं। उन पर बने हैं छोटे-छोटे खेत। वह देखो, वहाँ हल भी चल रहा है। फिर गाँव है, उनके ऊपर चीड़ की वृक्षावली है और फिर है हिमशिखर। सबके ऊपर है सजीले मेघ, अलस भाव से लेटे हुए, मानो अपने हाथों से सँवारी प्रकृति की रूप-माधुरी को पी रहे हों।"

चौकीदार न जाने कब का पीछे आ खड़ा हुआ था। मेरी उमगती वाणी सुन कर बोला, "आपको अच्छा लग रहा है ? लेकिन क्या आप जानते हैं कि जब बर्फ पड़ती है तो हम लोग कई-कई महीनों तक घरों में कैद रहते हैं ? दुनिया से हमारा कोई नाता नहीं रहता।"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। यह व्यवधान मन को अच्छा नहीं लगा। पर वह तो राशन के लिए पूछने आया है। फिर स्नान, भोजन, विश्राम। बहुत-सा समय बीत गया इसी में। वहीं से होकर एक नाला बह रहा था। उसी में जी भरकर स्नान किया। उसी के पास एक छोटा-सा बगीचा था। उसमें केले के पेड़ थे,

पोदीना भी था। दोनों का उपयोग किया। सब नया-नया जो लगता है। जो नया है वही आकर्षक है।

साथी नीचे घूमने चले गये। परन्तु मैं उसी शिलाखंड पर जा बैठा। न जाने कहाँ से आकर एक प्यारा-सा काला कुत्ता मेरे पास आ बैठा है। जैसे युग-युग का साथी हो। उसे देखकर धर्मराज की याद हो आयी। ऐसे ही मार्ग पर तो एक काला कुत्ता उनके साथ हो लिया था। लेकिन अभी स्वर्ग दूर है। हाँ, दृश्य अवश्य स्वर्गीय है, भव्य, दिव्य और रम्य, सभी रूप हैं। सभी कुछ पवित्रता से भरने वाला है। आकाश मेघाच्छन्न, प्रकृति निस्तब्ध, उस पार वह एकाकी कुटिया। सोचता हूँ, वह योगिनी है या वियोगिनी। योग में भी वियोग है, पर समष्टि के योग के लिए वह व्यष्टि का वियोग है। उच्चतर प्रिय मिलन के लिए निम्नतर का त्याग है। आसक्ति से मुक्ति है।

सहसा मेरी निगाह धारा के छोटे-बड़े शिलाखंडों पर जा अटकी। क्या ये गंगा के मार्ग की बाधा है या बहन को जाते देखकर उससे गले मिलकर रो रहे हैं? क्योंकि जहाँ मिलन है वहीं शुभ्र, श्वेत उफान है, शोर है। उस ओर की पर्वतमाला पर निचले भागों में वृक्ष कम, खेत अधिक हैं। सघनता केवल शिखरों पर है। नीचे की चट्टी भी देख सकता हूँ। दुकानदार बिक्री कर रहे हैं, किनारे-किनारे बोझी खाना बनाने में व्यस्त हैं। उस पार झरना गिर रहा है। बड़ा अच्छा लगता है। कुत्ता बीच-बीच में प्यार से कुछ बोलता है, मचलता है। साढ़े छह बज चुके हैं, पर खूब प्रकाश छिटका है। मैं डायरी लिखने लगा। भाभी जी न जाने कब पास आ खड़ी हुई थी। बोल उठी, "सुशीला जी को बड़ी लंबी-चौड़ी चिट्ठी लिखी जा रही है।"

उनकी ओर डायरी करके मैं मुसकरा आया। धीरे-धीरे संध्या उस वनश्री पर छाने लगी। चतुर्दशी का चाँद हँसता हुआ एक शिखर पर आ बैठा। दूरबीन उसकी ओर की तो उसकी विशालता आँखों में समाती न थी। चर्खा कातती हुई बुढ़िया न जाने कहाँ चली गयी! बस रह गये थे अनंत प्रकाश के बीच में धुँधले अंधकार के बड़े-बड़े विशाल धब्बे, जैसे सत्य और असत्य, तम और ज्योति, मृत्यु और अमर्त्य का समन्वय बताते हों।

कुछ साथी नीचे भागीरथी के तट पर जा पहुँचे। उनके सामने उस पार जाने के लिए एक लंबा पुल है। लोहे के दो मोटे तारों पर लटकते हुए झूले जैसा देखते ही प्राण काँप उठते हैं। लेकिन मनुष्य तो सदा प्राणों के कंपन को चुनौती मानता है। साथी लोग भी धीरे-धीरे बैठते-बैठते उस पार निकल गये। जिस समय बीच में पहुँचे तो क्षण-भर के लिए जैसे सकपका गये हों। झूला हिल रहा था और नीचे भागीरथी उद्दाम वेग से बह रही थी। लेकिन तभी पर्वत प्रदेश की कई महिलाएँ सिर पर बोझा सहेजे सहज भाव से पुल पर से चली आयीं। साथियों को देखकर,

पगडी, कोई बड़े अफसर हैं। एक बोली, "देखते हैं, कितना खतरनाक पुल है? कभी-कभी बीच में से लकड़ियाँ निकल जाती हैं। तब ऐसा लगता है कि गये नीचे। हमें रोज इस पर से आना-जाना पड़ता है। यदि इसे कोई पक्का बनवा दे तो बड़ा पुण्य हो।"

शायद उनके मन में यही बात थी जब हमारे साथी ने एक यात्री से कहा, "हजारों वर्षों से लोग यात्रा करने इधर आते रहे हैं। क्या ये रास्ते अधिक सुविधाजनक नहीं होने चाहिए?"

यात्री बोला, "रास्ते की बात कहते हैं? संवत् 2011[1] में मैं पहली बार इधर आया था। उस समय कैसा रास्ता था, बाबा रे बाबा! उसकी याद करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पगडंडी इतनी सँकरी, इतनी भयंकर कि पग-पग पर मौत हाथ पकड़ती। अब तो राजमार्ग हो गया है, दौड़े चले जाओ।"

आज पहली बार कॉफी बनायी। संध्या को प्रायः भोजन नहीं होता। आलू और दूध लेते हैं। घर से लाया नाश्ता अभी चल रहा है। रात्रि को प्रार्थना से पूर्व सब लोग एक स्थान पर बैठ जाते हैं। नाश्ता प्रायः महिलाएँ परोसती हैं। पर मार्त्तण्ड जी भी सेवा के अवसरों पर सदा आगे रहते हैं। उस दिन मेरे पैर में कुछ अधिक दर्द हो आया था। न जाने कैसे माताजी[2] इस बात को जान गयीं। चुपचाप अपनी बोतल में गर्म पानी ले आयीं। तब सहसा अपनी स्वर्गीय माँ की याद करके आँखें गीली हो उठीं। इन दुर्गम प्रदेशों में स्नेह का जरा-सा परस भी विचलित कर देता है।

दूसरे दिन[3] सवेरे पौने पाँच बजे ही हम लोग भटवारी की ओर चल पड़े। सात मील तक जीप का राजमार्ग है। उसके बाद पहाड़ गिर जाने के कारण रास्ता टूट गया है। इसलिए दो फ़र्लांग की भयंकर चढ़ाई चढ़कर शिखर पर पहुँच सके। फिर उस ओर उतरना था। मानव के साहस को चुनौती देने वाले ऐसे स्थल न जाने कितनी बार आते हैं। तीन मील पर मल्ला चट्टी है। वहाँ से हमने देखा कि नदी के उस पार बहुत-से यात्री गंगोत्री से लौटकर केदारनाथ की ओर जा रहे हैं। भटवारी के पास से एक रास्ता बूढ़ा केदार की ओर भी जाता है। वहाँ से यात्री लोग त्रिजुगी नारायण होकर केदारनाथ जाते हैं। मार्ग विकट है, परंतु सीधा है। इसीलिए अधिकांश यात्री उसी का उपयोग करते हैं। भयंकर चढ़ाई भी उनके साहस को नहीं तोड़ पाती। यहीं पर पिलगुना नाम की एक छोटी-सी नदी भागीरथी में आ मिलती है। पर्वत-प्रदेश की नदियाँ बड़ी छलिया होती हैं।

---

1 सन् 1954

2. जमनोत्री के मार्ग पर लखनऊ की एक भद्र महिला हमारे दल में शामिल हो गयी थीं।

3. 1 जून, 1958

वर्ष के अधिकाश भाग मे वे अबोध शिशु के समान खेलती रहती है। पर सहसा एक क्षण आता है जब उनका उद्दाम यौवन उग्र हो उठता है। तब उनका वेग आस-पास के सब कुछ को लील जाता है।

बहुत नीचे गंगा तट के साथ-साथ केदारनाथ की ओर पुराना मार्ग जा रहा है। वह रास्ता अधिकृत रूप से अब बद है। परन्तु फिर भी कुछ लोग आँख बचाकर उसी मार्ग से चले जाते है। ऊपर का नया मार्ग तब बन रहा था, उस पर से बड़े-बड़े पत्थर नीचे पुराने मार्ग पर गिर रहे थे। देखकर मन-प्राण काँप-काँप उठे। कही ये पत्थर यात्रियो पर गिर पडे तो ? पड़ाव पर पहुँचकर पता लगा कि कई यात्री उन पत्थरो की वर्षा से घायल हो गये है। लेकिन सौभाग्य से प्राण किसी के नही गये।

धूप तेज होती आ रही थी और भयंकर चढाई-उतराई के कारण पैरों की शक्ति भी क्षीण हो चली थी। साढे आठ बजे जब भटवारी पहुँचे तो मन लेट जाने को कर आया। परंतु यात्रा का अर्थ तो निरतर गतिमान होना है। सबसे पहले डाक-बँगले पहुँचे। कोई असुविधा नही हुई। मनेरी जैसा सौंदर्य तो यहाँ नही है, पर घाटी में बसी यह चट्टी नितांत आकर्षणहीन भी नही है। अच्छी-ख़ासी बस्ती है। ऊँचाई 4,800 फुट है। यहां का डाक-बँगला अपने विस्तृत लॉन के लिए सदा स्मरण रहेगा। शौचालय एक तीव्रगामी नाले के ऊपर बना हुआ है, इसलिए गदगी का कोई प्रश्न ही नही उठता।

पुराणों मे इस स्थान का नाम भास्कर या भास्करपुरी आता है। किवदंती है कि सूर्य ने यहाँ शिव की उपासना की थी। उसी की स्मृति मे भास्करेश्वर महादेव का दाक्षिणात्य शैली मे एक छोटा-सा मंदिर यहाँ बना है। इसकी स्थापना आद्य-शंकराचार्य द्वारा हुई थी, परन्तु अब यह जीर्णावस्था में है। मूर्तियाँ भी सुन्दर नही हैं। शिव-लिंग के अतिरिक्त सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं की मूर्तियाँ है। शिव-पार्वती की मूर्तियाँ भिक्षुक के वेष में हैं। इस प्रदेश में मिथुन मूर्ति पहली बार देखी। पर्वत-शिखर पर शेषनाग का मंदिर है। उनके चरणों से नवला नदी निकलकर यही गंगा में लय हो जाती है। आज पूर्णिमा है, इस कारण यहाँ जीवन उमड़ आया है। पास के गाँवों से नये-नये वस्त्र धारण करके गीत गाती हुई नारियाँ पूजा के लिए आ रही हैं। इस प्रदेश में जंगली गुलाब, जिसे इधर की भाषा में कुंजू कहते हैं, बहुत सुन्दर लगते हैं। गुलाब और नारी दोनों में काफ़ी समानता है, यह तब स्पष्ट देख सका।

वन-विश्राम-गृह के अतिरिक्त यात्रियों के ठहरने के लिए यहाँ बाबा काली कमली वाले की एक धर्मशाला है। राजकीय अस्पताल, डाकघर, जूनियर हाई स्कूल और कताई-केन्द्र भी है। वन-विभाग के दफ्तर और आवास-गृह तो है ही। सुना था, यहाँ दक्षिण के एक अच्छे साधु रहते हैं। ग्यारह वर्ष तक मौन धारण

करने के कारण वे मौनी बाबा के नाम से प्रसिद्ध हैं। हम उनसे मिलने गये। देखा, एक लंबे बरामदे जैसे कमरे में वे एक ऊँचे स्थान पर बैठे हैं। दुबले-पतले, इकहरा वदन, भगवे वस्त्रों पर गर्म जाकट, आस-पास 15-20 नारियाँ बैठी भजन गा रही हैं—"सब मिल साधु संगत करते रहना।" उनके वस्त्र रंग-बिरंगे हैं। जेवरों से लदी हैं, जो सभी चाँदी के हैं। सहज देहातीपन और रंगीनी की वे प्रतीक हैं। उस समूह में दो युवतियाँ साड़ियाँ पहने इस बात का प्रमाण दे रही हैं कि नये युग का प्रभाव यहाँ भी पहुँच गया है।

हम लोग साधुओं का सम्मान करते हैं, लेकिन वे साधु क्यों बने, यह जानने की इच्छा सदा जाग आती है। परिचय के बाद धीरे-धीरे हम लोग चर्चा में व्यस्त हो गये। बोलने में उन्हें कुछ कठिनाई होती है, शायद अनेक वर्षों तक मौन रहने के कारण। कई क्षण उपदेश देते रहे। उसका सार यही है कि मन की अनुकूल वृत्ति राग और प्रतिकूल वृत्ति द्वेष है। ब्रह्म-ज्ञान बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। स्वप्न तभी टूटेगा जब बोध होगा। नदी समुद्र में मिलती है और खो जाती है। यही मुक्ति है। तप करने पर भी मुक्ति मिल सकती है।

बीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर उन्होंने विवाह किया था। उस विवाह से उन्हें तीन कन्याएँ और एक पुत्र प्राप्त हुआ। चौदह वर्ष गृहस्थ में रहे, तीन वर्ष पत्नी के साथ वानप्रस्थी रहे, लेकिन फिर उसे सर्प समझने लगे। न जाने किस क्षण काट ले, इसलिए सब कुछ त्याग कर दीक्षा लेने के लिए गुरु के पास पहुँचे। गुरु बोले, "घर को त्याग कर दीक्षा लेने आये हो, लेकिन अभी तुम्हारी माँ जीवित है। उनका पिंड करके आना।"

माँ को गये इक्कीस वर्ष हो गये। अब किसी को कुछ पता नहीं।

यशपालजी ने पूछा, "जिस उद्देश्य से आपने घर-बार छोड़ा, क्या वह सिद्धि आप प्राप्त कर सके?"

उन्होंने उत्तर दिया, "नहीं। मैं जिस रस्सी को काटने आया हूँ, वह अभी मेरे हाथ में है। मैं अभी तप कर रहा हूँ।"

माधव बोल उठा, "आपने अपने सुख के लिए परिवार छोड़ा, क्या यह स्वार्थ नहीं है?"

वह बोले, "कौन मैं, कौन तू? मेरा-तेरा क्या? किसने किसे छोड़ा? ब्रह्मज्ञान बिना मुक्ति नहीं है और ब्रह्मज्ञान तर्कातीत है।"

दल में से किसी ने तुरन्त कहा, "आपने परिवार को छोड़ा, लेकिन यदि वह परिवार समाज का स्वस्थ अंग न बना तो क्या उसके लिए आप दोषी नहीं होंगे?"

यह विवाद का आरंभ था। बोले, "मैंने कहा न, ब्रह्म-ज्ञान तर्कातीत है, शेष अहंकार है। हम ज्ञान देने नहीं, तप करने आये हैं। चूहे की तरह बिल में हैं।

माया-ममता की रस्सी अभी तक काटी नही है। मैं वाद-विवाद नही करता। उसका कोई अंत नही। हिमालय मे आये हो, तर्क मत करो। यह तपोभूमि है।"

शोभालाल जी बोले, "उसका मार्ग क्या है, यह तो बताइये ?"

उन्होने उत्तर दिया, "ज्ञान क्या एकाएक दिया जाता है ? बिना कर्म मुक्ति नही होती।"

हम लोग कई थे और वह अकेले। अहिन्दी-भाषी होने के कारण शुद्ध हिन्दी भी नही बोल पाते थे। बहुत शीघ्र थक गये। कुछ व्यथित भी हुए। बाद में जब मार्त्तण्डजी उनसे मिलने गये तो उन्होंने कहा, "दिल्ली का दल तो मेरे गले ही पड़ गया।"

ग़लती हमारी थी। यात्रा मे विवाद न करके साधु-संतों की बात सुन लेना ही काफी है। मात्र जिज्ञासु होने का अधिकार है हमारा। वहाँ के लोगो ने बताया, "यह साधु लोक-संग्रही है, सचय नही करते। देने मे विश्वास करते हैं। जो माँग कर लाते है, सदाव्रत लगाकर उसे गरीबों मे बाँट देते हैं। जो यात्री किसी कारण कष्ट में पड जाते हैं, उनके यह संबल हैं।"

सुनकर उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। लेकिन यह बात मैं अभी भी न समझ सका कि अपने चारों ओर एक परिवार खड़ा करके उसे मँझधार मे छोड़ देना और दीन-दुखी यात्रियो की सहायता करना, इन दोनों मे क्या सगति है ? परिवार यदि बाधा है तो उसे स्वीकार ही क्यों किया जाये ? और मुक्ति क्या साधु बनकर ही मिल सकती है ? तप क्या वन मे ही संभव है ? उलझन ही उलझन है। हम प्रार्थनामय होकर ही कर्म क्यों न करें ?

आज पूर्णिमा थी। रात को खीर बनी। खीर-परावठे का नाश्ता करते-करते गाँव का बचपन याद हो आया। मदिर में गये तो एक बहन संस्कृत के श्लोकों का बड़े ही मधुर स्वर में पाठ कर रही थी। उस माधुर्य ने क्लाति को जैसे सहला दिया हो। यह मधुर स्वर, यह मधुर खीर, जून का महीना होने पर भी मन शीतल हो आया।

तीसरे दिन[1] जब हम आगे बढ़े तो पाँच नही बजे थे। कुछ दूर समतल मार्ग पर चलते रहे। फिर वही उतार-चढाव आरभ हो गया। चीड के सघन बन हमारे प्राणो मे शक्ति भर रहे थे। चार मील पर आगरा चट्टी के पूर्व हमने दीना और कूला नदियों को पार किया। उसके बाद स्वयं भागीरथी पर मुक्की का पुल पार करना पडा। वह इतना नाजुक है कि एक बार मे दो व्यक्ति या चार बकरी या दो खच्चर ही उस पर से जा सकते है। परन्तु दुर्बल होने पर भी वह मनेरी के पुल

1 2 जून, 1958

की भाँति भयानक नहीं है। स्थायी मार्ग की उन दिनों मरम्मत हो रही थी। इसलिए उस पार से एक अस्थायी मार्ग बना दिया गया है। उस मार्ग पर से जब हम पुराने मार्गों को देखते थे तो नुकीली चट्टानों के अतिरिक्त और कुछ भी दिखायी नहीं देता था। सोचते थे कि इन पहाड़ों पर रास्ता कहाँ से जाता होगा!

इसी मार्ग पर हमने एक मरणासन्न बूढ़े को काम करते देखा। मन में विचार उठा, जिस राज्य में व्यक्ति इतना निरीह हो, उसे क्या सुराज्य कहा जा सकता है? शायद वह दाक्षिणात्य साधु की तरह कह देगा, "अभी धर्मराज्य कहाँ है? उसकी खोज में लगे हैं। जब तक खोज पूरी नहीं हो जाती, ये विसंगतियाँ रहेंगी ही।"

मन फिर उलझ चला। लेकिन मार्ग के दृश्य बार-बार उसको लुभाते हैं। सघन वन, पग-पग पर चट्टानों को संगीत सुनाते रजतवर्णी प्रपात, हरे-भरे पेड़ों के प्रतिमा जैसे कुंज, सुगंधित वायु, संगीतज्ञ पक्षी, नाना रूप धरती गंगा, कभी उतावली-बावली ऊपर से गिरकर प्रपात बनाती, कभी शांत गंभीर, विस्तृत रेतीला तट छोड़ती और कहीं तटवर्ती पत्थरों को काट-छाँटकर नाना रूप कुंडों और प्रतिमाओं का निर्माण करती। मार्ग विषम होने पर भी मनमोहक था। थकावट होती, पर दूसरे ही क्षण तिरोहित भी हो जाती। चट्टानों के अवरोध से टक्कर लेती गंगा का स्वर अपनी ओर खींचता और वहाँ फेनिल जाल देखकर मन उसमें उलझ जाता। वन-प्रांतर मुझे अच्छा लगता है। एमरसन के शब्दों में कह सकता हूँ, "वन मेरे प्रिय अभिन्न मित्र हैं।"

ज्यों-ज्यों हम गगनानी के समीप पहुँच रहे थे, वन की सघनता बढ़ रही थी। किसी तनवंगी की तरह बेंत के हरे-भरे वृक्ष वेणु-कुंज के रूप में बड़े प्यारे लगे। सहसा उन्हीं के बीच वन-विश्रामगृह का सूचना-पट देखकर मन पुलक उठा। यात्रा का अंत इन थकाने वाले दुर्गम मार्गों पर सदा सुखद लगता है, लेकिन यहीं से दुरूह चढ़ाई का आरंभ है, यह नहीं जानता था। चढ़ते गये, चढ़ते गये, द्रौपदी के चीर की भाँति पथ का अंत ही नहीं आ रहा था। जैसे ही एक चढ़ाई पूरी करते तो एक नया मोड़ सामने आ जाता। त्रस्त हो उठे। तभी विधाता को जैसे हम पर दया आ गयी। उस मोड़ के तुरन्त बाद हम विश्रामगृह के पास जा पहुँचे, जैसे हमारी परीक्षा लेने के लिए ही वह छिपा बैठा हो।

नौ बज रहे हैं। समुद्रतल से 6,400 फुट ऊपर आकर प्राण मानो लौट आये। गर्व से देखा, भागीरथी के उस पार गगनानी चट्टी हमारे चरणों में नतमस्तक है। बीच के मार्ग पर गर्म जल के प्रसिद्ध प्रपात हैं। चारों ओर ऊँची-ऊँची चोटियों पर हैं, गर्वीले मानव द्वारा बसायी गयी बस्तियाँ। सब-कुछ भूलकर देर तक दूरबीन से उन्हीं को देखता रहा। साथी पौने दो घंटे के बाद वहाँ पहुँचे। स्कूल के बच्चे छुट्टी पाकर उसी मार्ग से ऊपर आ रहे थे। ये छोटे-छोटे बच्चे प्रतिदिन कितना

उतरते-चढते है, थकते नही। मृगशावक भी तो नही थकते। तिब्बत की नारियों को दिल्ली के राजमार्गों पर लड़खडाते देखा है। पर्वत-प्रदेश की एक नारी ने एक यात्री से पूछा था, "तुम्हारे मुल्क में क्या ऐसी सड़कें नही है?"

यात्री ने उत्तर दिया, "नहीं। ये तो बिलकुल समतल हैं। बहते चले जाओ।"

सुनकर अचरज मे वह नारी काँप उठी, "हाय राम, तब तो तुम लोग थक जाते होगे।"

गंगनानी अपने गर्म कुण्डों के लिए प्रसिद्ध है। ऋषि-कुण्ड, व्यास-कुण्ड और नारद-कुण्ड उसमें प्रमुख हैं। उनके साथ नाना प्रकार की घटनाओं का संबंध स्थापित करके पंडा लोग खूब पैसा कमाते हैं। एक प्रपात की ओर संकेत करके एक साधु ने हमसे कहा, "यह यमुना की धारा है, जो गंधमादन पर्वत से निकलती है।"

इन गर्म कुण्डों के पास शीतल जल का भी एक झरना है। इसे नर्मदा की धारा कहते हैं। किसी समय गंगोत्री तक जाने का मार्ग नही था, तब यात्री लोग गंगनानी को ही गंगोत्री मानते थे।

कुण्डों का पानी इतना गर्म है कि सहसा उनमे हाथ नही दिया जा सकता। जिस कुण्ड मे कपड़े धोये जाते हैं, उसका स्पर्श तो असंभव है। ऋषि-कुण्ड का पानी भी काफ़ी गर्म है। उन बीहड़ दुर्गम मार्गों पर चलकर थका-माँदा यात्री जब यहाँ पहुँचता है और धीरे-धीरे ऋषि-कुण्ड में उतरता है तो उसका शरीर जैसे नवजीवन पा जाता है। नयी स्फूर्ति से भरकर वह आगे के दुर्गम पथ पर बढ जाता है। जिस समय मैं कुण्ड में उतरने की चेष्टा कर रहा था तो सहसा काँप उठा। मानो किसी ने मेरी कमर में इंजेक्शन लगा दिया हो। तडप कर देखा, बड़ी-बडी नीली मक्खियाँ आक्रमण कर रही है। ये मक्खियाँ सूई की तरह डंक मारती हैं। लेकिन एक बार झनझना देने के अलावा उस डंक का और कोई असर नही होता। जैसे शरारती बच्चे चिकोटी काट लेते हैं।

गंगनानी के साथ एक प्राचीन कथा जुडी हुई है। नीचे गंगा-तट पर रहने वाले एक मल्लाह की पुत्री मत्स्यगंधा नाव से यात्रियों को पार किया करती थी। एक बार पाराशर मुनि पार जा रहे थे। उस कन्या के शरीर से उठने वाली गंध से वह मुग्ध हो उठे। नाव मे ही उन्होंने मत्स्यगंधा से विवाह किया। उस विवाह के परिणामस्वरूप वह वेदव्यास की माता बनी। मत्स्यगंधा पूर्व-जन्म में पाराशर ऋषि की पुत्री थी। तब किसी पाप के कारण कामधेनु ने उन्हें श्राप दिया था, "तुम अपनी पुत्री से विवाह करोगे।" उसी श्राप के कारण उन्होंने मत्स्यगंधा से विवाह किया। लेकिन यह भी पाप था। उसका प्रायश्चित्त करने के लिए वह गगनानी आये और 24 पुरश्चरण किये। एक पुरश्चरण मे एक अक्षर के 24 लाख पाठ किये जाते हैं। इसी स्थान पर उस युग मे वशिष्ठ के पौत्र और शक्ति के पुत्र

इन महर्षि पाराशर का आश्रम था।

भोजन करने के बाद कुछ देर विश्राम करना चाहा। लेकिन मक्खियों के कारण संभव न हो सका। दिन भी थकने लगा था। संध्या घिरती आ रही थी। बादल भी जैसे यात्रा से लौटने लगे। हम लोग नीचे चट्टी पर घूमने चले गये। खुला स्थान है। यात्रियों के लिए काली कमली वालों की धर्मशाला है। काफी देर घूमते रहे। जब सर्दी बढ़ने लगी और तूफ़ान के आसार भी प्रगट हो आये तो लौटकर तुरन्त विश्रामगृह पहुँचे। क्या देखते हैं, तीन साधु हमारे स्थान पर अधिकार जमाने के लिए तत्पर हैं। खूब अँग्रेजी बोल लेते है। कहने लगे, "हम बँगले मे ठहर जायें ?"

चौकीदार ने उत्तर दिया, "यह स्थान घिरा हुआ है।"

साधु कुछ तीव्र हुए। बोले, "सभी स्थान घिरे हुए है। हम कहाँ ठहरेंगे ? तुम लोगो मे इस वेश के लिए श्रद्धा नही है ?"

यशपाल बोले, "श्रद्धा तो है, लेकिन करें क्या ? जगह नही है। और फिर बिना अधिकारियों की अनुमति के यहाँ ठहरने का नियम भी नही है।"

तरुण साधु सहसा क्रुद्ध हो उठे। बोले, "नैसेसिटी नोज नो लॉ।"(आवश्यकता कायदे-कानून नही जानती।)

यही तीव्र विवाद का आरंभ था, लेकिन अंततः उनको वहाँ से जाना पडा। स्थान नही था और वे तीव्र प्रकृति के थे। उनके वस्त्र मात्र गेरुए थे। जैसे धर्मभीरू यात्रियों की श्रद्धा पर डाका डालने के लिए पहन लिये हों।

इस पावन-पथ पर पांव-पैदल चलते आज चौथा दिन[1] था। चलने से पूर्व ऋषिकुण्ड में स्नान करने का लोभ संवरण न कर सके। भयंकर शीत और घोर अंधकार लेकिन गर्म जल के कारण मन का सब अवसाद दूर हो गया। देवदार के वन भी पास आ गये थे। लोहारीनाग तक के चार मील बिना विशेष कठिनाई के पार कर गये। परन्तु इससे आगे की चढाई ने प्राणो को थका दिया। सहसा सोचा, प्रकृति के उठानों के साथ मन भी क्यों नहीं उठ सकता ? उठता है, पर इतना त्रस्त हो जाता है कि बहुधा वह उठान अर्थहीन हो रहती है। वस्तुतः उठने की प्रक्रिया वातावरण पर इतना निर्भर नही करती जितनी वातावरण को जीने वाले मनुष्य के अंतरमन पर।

बीच-बीच में मार्ग बन रहा था, इसलिए अत्यंत विषम नये पथ का सामना करना पडा। छोटे-बड़े अनगढ़-अव्यवस्थित पत्थर परेशान करने लगे। कही-कहीं तो ऊपर के मार्ग पर जाने वाले यात्रियो पर बरस पड़ते। एक महिला को देखा,

---

1. 3 जून, 1958

जिसके सिर पर ऐसा ही एक पत्थर आ गिरा था। खून से लथपथ कराहती वह आगे बढ़ रही थी। थोड़ा और आगे बढ़े तो एक दल को उधर से लौटते हुए देखा। सदा की तरह 'गंगा माई की जय' का नारा लगाया। लेकिन दल में एक महिला थी, उदास, भीगी आँखों से करुणा भरे स्वर में वह बोली, "मुझसे जय नहीं बोली जाती।"

उसके स्वर में इतना दर्द था कि मन भीग आया। बम्बई राज्य के एक दल के साथ वे पति-पत्नी दोनों यात्रा करने आये थे। मार्ग में अचानक पति गिर पड़े और तुरन्त उनका प्राणांत हो गया। हृदय पर पत्थर रखकर उसने स्वामी का दाह-संस्कार किया, लेकिन यात्रा समाप्त नहीं की। धर्मप्राण हिन्दू के विश्वास के अनुसार पति पुण्यात्मा थे, स्वर्ग गये। परन्तु पत्नी क्या करे? उसका मन कहाँ जाये? फिर भी कैसा था उसका साहस! जैसे जी-जान से संपूर्ण विषाद को अंतर में समेटे हो। यात्रा-पथ के सहयोगियों में नारियों का साहस सचमुच अद्‌भुत है। एक और महिला की याद आती है। क्षीणकाय, घायल पैर, पर मृगी की भाँति दौड़ती है। थकती ही नहीं। पडाव पर सबसे पहले पहुँचकर सबसे अच्छा कमरा घेर लेती है और फिर भोजन बनाने में व्यस्त हो जाती है। जैसे यही उसका लक्ष्य हो।

लोहारीनाग चट्टी पर एक चाय वाले को देखा। वस्त्र जितने गंदे, बातें उतनी ही प्रखर। मैंने पूछा, "तुम लोग कभी नहाते हो?"

बड़ी अक्खड़ता से हीरालाल ने उत्तर दिया, "हम लोग पानी से नहीं, हवा से नहाते हैं, साहब!"

जैसे इस प्रश्न को उसने अपना अपमान समझा हो। शहरी लोगों की अशक्तता पर व्यंग्य और अपनी शक्ति पर गर्व करते हुए उसने उच्च स्वर में घोषणा की, "तुम लोग शहरी हो। जरा-सा चलने के लिए तुम लोगों को कार चाहिए। हम लोग पहाड़ी हैं। आलू खाते है, जौ खाते है और यहाँ से सीधे वर्फ़ के पहाड़ो से होकर जमनोत्री पहुँच सकते है। सीधे रास्ते मार्ग कुल तेरह मील है। आप लोग तीन जन्म में भी उस रास्ते को पार नहीं कर सकते। डेढ दिन में केदारनाथ पहुँच सकते है। दो दिन मे गंगोत्री। उस रास्ते को देखते ही तुम लोगों की छाती दहल जायेगी। यहाँ पर तीरथ करने आये हो तो भी 'राम-राम' कहकर चढ़ पाते हो। कुछ लोग तो 'कण्डी-कण्डी' पुकारते हैं। जरा ठंड लगी तो नाक बहने लगती है। हम लोगों को क्या भुगतना पड़ता है, यह तुम जानते हो क्या? जाड़े के दिनों में चार महीने, मगसिर से फागुन तक, वर्फ़ मे बंद रहते है। वहीं खाना, वहीं पीना, वहीं बीमार पड़ना। कोई मर गया तो बस वहीं फेंक देना। हरि इच्छा। लेकिन तुम डरते क्यों हो? सीधा रास्ता है, चले जाओ।"

उसका यह भाषण सुनकर स्तब्ध रह गये। हमारे जैसे ही वे मनुष्य है।

लेकिन उनके सोचने का दृष्टिकोण कितना अलग है ! प्रकृति चुनौती देती है, परन्तु मानव परास्त नही होता। अपने अदम्य साहस के बल पर उस प्रकोप को सहन करता हुआ अपना अस्तित्व बनाये रखता है। हीरालाल खेती-बाड़ी करता है, यात्रा के समय दुकान चलाता है। शेष समय गंगोत्री का जल हरिद्वार तक पहुँचाता है। एक घडे के 60 रुपये लेता है।

हम शहरी लोग प्रकृति के सौंदर्य पर मुग्ध हो रहते हैं, पर वे लोग उसके कोप को सहते हैं। कब समझौता कर पायेंगे हम प्रकृति से !

मस्तिष्क मे विचारो का झझावात मच उठा था, पर प्रगट मे उसकी वार्ता से प्रभावित होकर हम खूब तेज चले। प्रकृति की उग्र भीषणता भी हमारे उत्साह को भग न कर सकी। पारसाल हिमालय इतना क्रुद्ध हो उठा था कि उसने बैरीनाग चट्टी को नष्ट-भ्रष्ट करके गंगा के मार्ग को इस प्रकार अवरुद्ध कर दिया कि वह एक बहुत बड़ी शांत नीली झील बन गयी। उद्दाम यौवन की स्वामिनी जैसे एक प्रौढ़ तपस्विनी की भाँति कही बहुत दूर देखती हुई अलस-भाव से लेटी हो। जल स्फटिक के समान निर्मल, स्थिर और शांत।

यहाँ लकडी का एक खतरनाक पुल बना है। उस पर से होकर हम फिर सुन्दर मार्गो पर चलने लगे। भेड-बकरियों के अनेक दल मिले। प्रतिदिन मिलते रहते हैं। इन दुर्गम प्रदेशो मे मात्र ये ही यातायात के साधन है। इन पर लादकर व्यापारी लोग नमक, चावल आदि ले जाते है। ऊपर से आलू लाते हैं। शेर जैसे बड़े-बड़े काले कुत्ते बड़ी कुशलता से इनकी रखवाली करते है। वन-गाय भी है। उन्हे झब्बू, सुरा गाय या चँवर गाय भी कहते है। पीठ पर बोझ लादकर ये बडी शान से चलती है और उनके गले की निरतर बजती हुई घटियाँ यात्रियो को चेतावनी देती रहती है। इतनी सीधी और सजग होती है कि उनके मालिकों को उन्हे डाँटने-फटकारने की आवश्यकता नही होती। पर्वतीय प्रदेशो मे लोगों को फासले का अदाज नही होता। मार्ग में हमने पूछा, "अगली चट्टी कितनी दूर है ?"

उत्तर मिला, "डेढ़ मील।"

लेकिन डेढ़ मील चलने के बाद हम चट्टी नही पा सके। फिर पूछा, "अब चट्टी कितनी दूर रह गयी है ?"

उत्तर मिला, "डेढ़ मील।"

थका मन झुंझला आया। अब तक जो डेढ़ मील चले थे, वह सब अकारथ गया। लेकिन अनेक यात्राओं के बाद हम अभ्यस्त हो गये हैं। क्षणिक झुंझलाहट के बाद हँस आते हैं। आज की रात हमे सुक्खी चट्टी पर बितानी है। जैसे वह पास आ रही है, चढाई भी भयानक होती जा रही है। लेकिन देवदार के वृक्षो से निर्मित सघन वन, चाँदी के समान झरते हुए मादक झरने थकने ही नही देते। देवदार के वृक्षों को देखकर सहसा ऐसा लगा जैसे वे मनुष्यों की

महत्वाकांक्षा के प्रतीक हों—

> गिरिवर के उर से उठ कर
> उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
> हैं झांक रहे नीरव नभ पर
> अनिमेष, अटल, कुछ चिन्ता कर (पंत)

लेकिन वे चिंता करते रहे। यायावर के मन को तो प्राणों की सजीवनी से भर देते हैं। इसलिए हम लोग नौ मील का यह दुर्गम पथ लगभग चार घंटे में पूरा करके सुक्खी पहुँच गये। देखते क्या हैं, दो साधु एक स्थान पर हाथ जोड़े खड़े है और कह रहे है, "आओ महाराज, आओ।"

लेकिन वहाँ तो कोई भी नहीं है। पूछा तो पता लगा, एक साँप है। तीर्थयात्रा में किसी को मारने की कल्पना भी ये लोग नहीं कर सकते, इसलिए वे हाथ जोड़कर सर्पराज से प्रार्थना कर रहे थे। दो क्षण बाद बोले, "देखिये, नागदेवता ने हमारी प्रार्थना मान ली और चले गये।"

हमें उनकी बातों पर हँसी आ गयी। लेकिन उनके सामने कैसे हँस सकते थे? आगे बढ़ गये।

पर्वतों से घिरी हुई सुक्खी चट्टी समुद्र से 8,700 फुट ऊँचाई पर बसी हुई है। हरीतिमा खूब है, लेकिन कई दिन से डाक-बँगले में ठहरते आ रहे थे, इसलिए भीड़-भरी इस साधारण चट्टी पर ठहरना बहुत अखरा। बड़ी कठिनता से एक छोटा-सा कमरा पा सके। लेकिन प्राकृतिक दृश्यों का सौंदर्य हमें अपनी ओर खीच रहा है। आस-पास अखरोट और खुबानी के पेड हैं। सामने श्रीकण्ठ सिर ऊँचा किये खड़ा है। वह हिम-शिखर ऐसा लगता है मानो प्रकृति का हास्य पुंजीभूत हो गया हो। दूरबीन से उसे देख रहे थे कि आस-पास कुछ बच्चे इकट्ठे हो गये। निपट-निरीह, अर्ध-नग्न और गंदे। दूरबीन देखने को वे बहुत उत्सुक थे। पास बुलाकर उनसे बातें की। दूरबीन भी दिखायी, पर मन को बहुत कष्ट हुआ। इधर रोग बहुत है। कमर और कंधों पर बेतरतीब मांस का ढेर देखकर मन न जाने कैसा-कैसा हो जाता है। प्रकृति इतनी सुन्दर और मनुष्य इतना अस्वस्थ और कदर्य! और उद्धत भी।

सध्या को चाय पीने एक दुकान पर गये तो वह बोला, "जहाँ से आटा लिया है, वहीं से दूध-चाय लो।" सुदूर दक्षिण में महाबलिपुरम में भी इसी मानसिकता का परिचय मिला था मुझे।

रात के समय प्रकृति का रूप और भी मादक हो आया। सामने पहाड़ी के ऊपर से चंद्रमा अपनी अमृत किरणों से उद्वेलित करने लगा। उसका यौवन जैसे बाहर फूट पड़ रहा हो। बहुत देर तक उसे देखता रहा। पर वह भी तो 'चरैवेति

चरैवेति' का उपासक है। वह दृष्टि से ओझल हुआ तो उसके प्रकाश से हिमशिखर प्रदीप्त हो उठे। उस दीप्ति से मन उमग आया। तभी सहसा वहाँ कोलाहल मच उठा। पास ही मराठा दम्पति सोये हुए थे। उन्ही के पास बलिया की ओर के कुछ यात्री आ लेटे। तब वह मराठा स्त्री अपनी भाषा मे ज़ोर-ज़ोर से उन्हें डाँटने लगी। जवाब में बलिया की टोली के एक सज्जन भी उसी तरह अपनी मातृभाषा मे बोलते चले जा रहे थे। अद्भुत दृश्य था। कोई किसी की भाषा नहीं समझता था। लेकिन स्वर मे चुनौती थी और रात त्रस्त हो रही थी। उनको शात करने मे काफ़ी समय बीत गया। नीद मे एक बार व्यवधान पड जाता है तो वह रूठ जाती है। झपकी लगी ही थी कि सदा की भाँति घोरपड़े का स्वर मस्तिष्क पर घन की तरह पड़ा, "उठो-उठो, तीन बजकर बीस मिनट हो गये।"

एक बार मन मे आया कि कह दूँ, भाड मे जायें तीन बज कर बीस मिनट, मैं नही उठता। लेकिन—

यात्रा करो, यात्रा करो, यात्री दल
मिला है आदेश
अब नहीं समय विश्राम का।

उठ बैठा और सोचने लगा साधु की बात।

कल सध्या को एक घायल साधु से भेंट हुई थी। वह प्रायः सज्ञाहीन थे। चोटों पर टिंचर लगायी, खाने को फादर मुलर की गोलियाँ दी, फिर चाय पिलायी और अत मे एक कोठरी में उन्हें लिटा लिया। देखते क्या हैं कि सज्ञाहीन-से वह बार-बार उठ बैठते है और इधर-उधर टटोलते है। पता लगा, उनके पास एक बोरी थी, जिसमें कुछ रुपये थे। अर्ध-चेतन अवस्था मे भी वह माया के मोह से मुक्ति नही पा सके। लेकिन वह बोरी भी उन्हें नही मिली। अगले दिन जाने से पूर्व हम उन्हे नही देख सके। उस समय उठाना उचित नही था। लेकिन जब यात्रा से लौट रहे थे तब मालूम हुआ कि वह दूसरे दिन ही स्वर्ग चले गये थे।

पाँचवें दिन[1] हमें विष्णु और वृन्दा के संघर्ष-स्थल हरसिल की ओर रवाना होना था। चलते-चलते पाँच बज गये। एक मील की कड़ी चढाई के बाद उतराई आ गयी। बहुत अधिक नही थी। उसके पश्चात समतल मार्ग था, सुखद और सुहावना। बहुत दूर तक भागीरथी यहाँ शान्त, गंभीर, सर्पाकार गति से बहती है। मार्ग मे पग-पग पर झरने आते हैं। उन पर पड़ी लकड़ियों पर से उन्हे पार करना पड़ता है। अद्भुत बात है कि जहाँ भागीरथी ने उछलना छोड़ा, वहाँ

---

1. 4 जून, 1958

यात्री उछलने-कूदने लगे। हम लोग भी उछलते-कूदते झाला चट्टी पहुँच गये। तीन मील के इस मार्ग का पता ही नहीं लगा। यहाँ चाय ली। दृश्य और भी सुन्दर होने लगे। पर्वत-शिखरों पर हिम चमक आया दीखता है। चारों ओर देवदार के, महत्वाकांक्षी तपस्वियों की भाँति खड़े, वृक्षों की आकृति बड़ी प्रिय लगती है। नीचे विस्तृत मैदान हैं जिसमे गगा अनेक धाराओं में होकर बह रही है, मानो प्रकृति नटी की वेणियाँ लहरा रही हों। वह विस्तार जैसे मन को स्फूर्ति से भर देता है। अब तक की यात्रा के ये सर्वोत्तम दृश्य हैं।

हरसिल का नाम बहुत वर्षों से सुनते आ रहे थे। प्रांतीय सरकार इसको ऊनी वस्त्र और सेब के बगीचों का महत्वपूर्ण केन्द्र बनाने का प्रयत्न कर रही है। प्राकृतिक दृष्टि से यह सचमुच मनोरम प्रदेश है। सेब के उपवन, देवदार के वन, भेड़-पालन केन्द्र, कुटीर उद्योग, सुन्दर स्त्री-पुरुष, मानो पौराणिक युग के किन्नर और किन्नरियाँ यहीं रहते रहे हो।

पुराणों मे एक रोचक कथा आती है। एक बार जलंधर दैत्य ने कैलासपति शिव पर आक्रमण किया। वर्षों तक उन दोनों में मारांतक युद्ध होता रहा। अंत मे शिव विजयी हुए, परन्तु इस विजय का कारण उनकी शक्ति नहीं थी, जलंधर की पत्नी वृन्दा का पतन था। वह पतिव्रता थी और उसका वह पातिव्रत्य उसके पति का अभेद्य कवच था। विष्णु इस रहस्य को जानते थे। उन्होंने माया से जलधर का रूप धारण किया और वृन्दा के पास पहुँचे। पति को पास पाकर उसका मन विचलित हो आया। बस, उसी क्षण उसका पातिव्रत भंग हो गया और जलंधर का अभेद्य कवच भी टूट गया। शिव ने तुरंत उसका मस्तक काट डाला। वृन्दा को इस छल का पता लगा तो वह क्रुद्ध हो उठी। उसने विष्णु को शाप दिया, "तू शिला हो जा।"

विष्णु ने भी वृन्दा को शाप दिया, "तू तुलसी होकर सदा मेरे चरणों में रह।"

दोनों शाप सत्य हुए। आज भी पौराणिक लोग शालिग्राम शिला पर तुलसी चढाते है। दोनों का विवाह बड़ी धूमधाम से किया जाता है। कहते है, विष्णु इसी स्थान पर शिला बने थे। 'हरिशिला' का अपभ्रंश ही 'हरसिल' है।

इसका नाम हरि-प्रयाग भी है। और इसके दो भाग हैं। पहले भाग को बोगरी कहते है। इस गाँव में प्रवेश करते ही पाया कि दाहिनी ओर के एक पक्के बरामदे मे एक सुन्दरी ऊन कात रही है। उस रूप को देखकर आश्चर्य हुआ। अब तक जिनको देखते आ रहे थे, उनसे वह एकदम भिन्न थी। गौरवर्ण, तीखे मोहक नक़्श। साथी उसकी फोटो खींचने के लिए व्यस्त हो उठे। घोरपड़े बोले, "इधर देखो।"

तब हमारी ओर दृष्टि उठाकर वह मुसकराई, मानो कहती हो, 'तुम फ़ोटो

खींचना चाहते हो। खींच लो। सभी यात्री खींचते है।'

इस गांव में जाड़ जाति के लोग रहते है। ये तिब्बत के भोटियों की ही एक उपजाति है। पौराणिक काल में उन्हें देवयानी कहा है हमने। किन्नरों के संगीत पर हम मुग्ध थे, परन्तु हमने उनके रूप की जो कल्पना की थी, उसमें उनका चेहरा घोड़े के समान था। यह रहस्य स्पष्ट नहीं हो सका है। परन्तु आज तो ये लोग निश्चय ही वर्णसंकर हैं। मिश्रित रक्त के कारण ही ऐसा सौंदर्य सम्भव है। युवतियाँ सलवार, कुर्ता और कोट पहनती है। गढ़वाल की दूसरी नारियों की तरह ज़ेवरों से लदी नहीं रहती। मैंने उस युवती से पूछा, "दिन में कितनी ऊन कात लेती हो?"

वह बोली, "सेर भर।"

"चादर दिखाओगी?"

उसकी माँ तथाकथित पश्मीने की सुन्दर चादर ले आयी। मैंने पूछा, "क्या कीमत है?"

बोली, "छब्बीस रुपये।"

लेकिन हम तो यात्रा पर हैं। क्रय-विक्रय की व्यवस्था लौटती बार ही सोची जा सकती थी। बोले, "अच्छा, आती बार लेंगे।"

और आगे बढ़ गये। दूर से देखने पर यह मंदिरों का गाँव लगता है। अनेक ध्वजाएँ फहराती हुई दिखाई देती हैं। लेकिन ये ध्वजाएँ उन लोगों ने गाड़ी हैं, जिन्होंने कोई-न-कोई मानता मानी है। यहाँ के अधिकांश निवासी बौद्ध हैं, कुछ नानकपन्थी भी हैं।

हरसिल (8,400) की इस उपबस्ती को देखते हुए हम आगे बढ़े चले। भेड़ों के गिरोह चारों ओर बिखरे हुए हैं और धरती पर झरनों और धाराओं का जाल बिछा है। उनको पार करना बहुत अच्छा लगता है। उस पार हरिगंगा अथवा जलंधरी भागीरथी में आकर मिलती है। एक और नदी ककाड़ा भी भागीरथी में मिलती है। उसके संगम पर लक्ष्मीनारायण का मंदिर है। हरसिल का सीमान्त ऊन केन्द्र भी यहीं है। वहाँ हमने पट्टू और थुलमे आदि देखे। बिक्री अच्छी होती है। मुख्य मार्ग पर बाईं ओर डाक-बँगला बना है। विल्सन साहब नाम के एक अँग्रेज ने इसका निर्माण 1860 ई० में कराया था। इस प्रदेश को खोजने का श्रेय विल्सन को ही है।

महाराजा ने यह वन-प्रदेश उसे पाँच हज़ार रुपये में ठेके पर दिया था। बाद में वह एक स्थानीय हरिजन युवती से विवाह करके यहीं बस गया। सोचता हूँ, अँग्रेज जाति ने हमें दास बनाया, परन्तु उस दासता को स्थायी बनाने के लिए उन्होंने अनेक ऐसे काम भी किये, जो सदा हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे। दुर्गम प्रदेशों की खोज, अनपनीय नदी-नालों पर पुलों का निर्माण, निर्जन प्रदेशों में

विकास-कार्य, इत्यादि। कैसा विशाल बँगला बनवाया है ! यही बँगला अब यात्रियों के लिए डाक-बँगला बन गया है। वन और निर्माण-विभाग के कार्यालय, स्पेशल पुलिस का केन्द्र, डाकघर, अस्पताल—सभी कुछ यहां हैं। यहां हमने एक पागल व्यक्ति को देखा। वह निरन्तर चीख़-चीख़ कर चमड़े की निंदा करता रहता है। फिर कह उठता है, "शरीर भी चमड़ा है, पर वह भजन गाता है।"

और वह गाने लगता है।

डाक-बँगले से चारों ओर की प्रकृति का बड़ा मनोरम रूप दिखायी देता है। एक के बाद एक पर्वत-शृंखला उभरती चली जाती है। सबसे ऊपर हैं हिम-शिखर जो मौन तपस्वी की तरह न जाने किस युग से वहां खड़े तप कर रहे हैं। सूर्य की किरणें जब उनका आलिंगन करती हैं तो नाना रूप इन्द्रधनुषों का निर्माण हो उठता है। जैसे किसी चित्रकार ने रंगभरी तूलिका से उन्हें रूप दिया हो। नीचे विशाल प्रांगण में सेबों के उपवन और सामने की पहाड़ी ढलानों पर देवदार के सुन्दर वन यहां की सबसे मूल्यवान निधि हैं। आस-पास के स्रोतों से उठता हुआ कलकल-छलछल का मधुर निनाद मस्तिष्क की सलवटों को समतल करता हुआ हृदय में जैसे उन्माद भर देता है।

आगे ढाई मील का राजमार्ग इतना सुन्दर है कि समय का ज्ञान खो जाता है। दोनों ओर के वृक्षों की छाया में हम बहुत शीघ्र धराली पहुँच गये। यह महत्वपूर्ण बस्ती कभी गंगोत्री की शीतकालीन राजधानी थी, परन्तु समीपवर्ती क्षीर-गंगा (जो श्रीकंठ से आती है) में दस वर्ष पूर्व ऐसी भयानक बाढ़ आयी कि यह प्राय: नष्ट हो गयी। यहां पँवार लोग बसते हैं। ये क्षत्रिय हैं। भेड़ पालते हैं और नेलंग घाटी से होकर तिब्बत के साथ व्यापार करते हैं। चीन के अप्रत्याशित आक्रमण के कारण यह व्यापार अब प्राय: समाप्त हो गया है। यहीं से सुप्रसिद्ध श्रीकंठ शिखर के दर्शन होते हैं। और गंगा के ठीक उस पार मुखबा गाँव दिखायी देता है। गंगोत्री के पंडे रहते हैं वहां। वहीं पर मार्कण्डेय ऋषि और पांडवों ने कुछ समय तक निवास किया था। जब भयंकर शीत के कारण गंगोत्री का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तब भागीरथी की पूजा इसी 'मार्कण्डेय तीर्थ' में होती है। तब यही मुख्य केन्द्र या मुख्य मठ कहलाता है। मुख्य शब्द का अपभ्रंश ही मुखबा है। मुखबा के साथ नीच जाति में उत्पन्न, पर अपने तप और ज्ञान के कारण सर्वपूज्य हो रहने वाले महर्षि मतंग की कहानी भी जुड़ी हुई है। यहां हमने वह शिव-मंदिर भी देखा जो बाढ़ आने के कारण रेती में धँस गया है और बराबर धँसता जा रहा है। इस समय केवल शिखर मात्र दिखाई देता है।

भोजन-विश्राम के बाद पौने दो बजे हम फिर अपने लक्ष्य की ओर चल पड़े। एक मील पर हत्याहारिणी नदी मिलती है, जो क्षीरगंगा की तरह उत्तरवाहिनी है। आगे चार मील पर जांगला चट्टी आती है। उसको सहज ही छायापथ कहा

जा सकता है, समतल, शीतल, वृक्षों से आच्छादित। उसे पूरा करने में लगभग सवा घंटा लगा। ऐसा लगता था मानो सघन कुंजों के बीच से होकर जा रहे हैं। यहाँ हम चाय पीने के लिए रुके और सामने देखा, उस भयंकर चढ़ाई को जिस पर अब हमें चढ़ना है। कभी यहाँ काठ का छोटा-सा एक डाक-बँगला भी था। परन्तु अब तो पुल के पास तीन-चार दुकानें शेष रह गयी हैं। यहीं से होकर एक मार्ग मुखवा को जाता है। जैसे ही हमने चढ़ना शुरू किया, प्राण विद्रोह कर उठे। कड़ी पथरीली चढ़ाई है। कहीं-कहीं पर मार्ग अत्यंत सँकरा है और चक्रव्यूह जैसे मोड़ों से भरा हुआ है। चट्टानों को पकड़-पकड़ कर चढ़ना होता है। इस मार्ग पर नेलंग घाटी, पुलमसुंध और झल्लू खागा होकर तिब्बत की ओर जाने की राह है। नेलंग घाटी हमारी सीमान्त सेना का एक प्रमुख केन्द्र है। ऊँचाई 17,000 फुट है। चीन के आक्रमण के कारण इसका महत्व बहुत बढ़ गया है। सतर्कता और जागरूकता भी बढ़ी है। मार्ग प्रशस्त किये जा रहे हैं।

कुछ दूर आगे बढ़ने पर भीषण नाद सुनायी देने लगता है। देखा, बाईं ओर के भूधराकार पर्वतों के वक्ष को चीरती हुई उन्मादिनी-सी एक नदी भागीरथी में आ कर मिल गयी है। नीलगंगा, जाड़गंगा तथा भोटिया गंगा इसी के नाम हैं।

यह संगम देखकर मुझे बदरीनाथ के मार्ग पर विष्णुप्रयाग के पास अलखनंदा और विष्णुगंगा के संगम की याद आ गयी। वह उन्माद अब भी रोमांचित कर जाता है। यहाँ भी धारा ने पर्वतों को काट-काट कर न जाने कितनी गुहाएँ, प्रतिमाएँ और कुंड बना डाले हैं। उन डरावने कटावों के कगार पर से पथरीला, सँकरा आकाशगामी मार्ग जाता है। भयानक मोड़ों का कोई अंत ही नहीं है। कथा आती है कि जब गंगा भगीरथ के पीछे-पीछे जाती हुई इस प्रदेश में आयी तो उसका वेग इतना प्रबल था कि वह महर्षि जन्हु के आश्रम को बहा ले गयी। यह सारा प्रदेश महर्षि जन्हु का था। अपने आश्रम की यह दुर्दशा देखकर वह अत्यंत क्रुद्ध हो उठे और आचमन करके भागीरथी को पी गये। तपस्वी भगीरथ ने जब यह देखा तो वह बहुत दुखी हुए। उन्होंने कातर होकर महर्षि से भागीरथी को मुक्त करने की प्रार्थना की। महर्षि प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी जाँघ चीरकर भागीरथी को फिर धराधाम पर जाने दिया। इसीलिए भागीरथी का एक नाम हुआ जान्हवी।

यह एक रूपक है। कोई भी व्यक्ति देख सकता है कि जाड़गंगा और भागीरथी दोनों मानो हिमाचल के वक्ष को चीरकर आगे बढ़ रही हैं। जान्हवी की घाटी अपेक्षाकृत विस्तृत है, वेग भी उसका उद्दाम है। भागीरथी गहन गह्वर में से होकर बहती है। कहीं-कहीं तो वह घाटी इतनी सँकरी है कि भागीरथी दिखाई भी नहीं देती। यही देखकर किसी कवि ने कल्पना की होगी कि जन्हु ऋषि ने जाँघ चीरकर जान्हवी को मुक्ति दी। ऐसा लगता है कि जैसे तपस्वी भगीरथ ने

भागीरथी का पता लगाया उसी प्रकार महर्षि जन्हु ने नीलगंगा का पता लगाया होगा। तब उसका नाम जाह्नवी हुआ और भागीरथी में लय हो जाने के बाद उसने अपना नाम भी उसे दे दिया।[1]

यह स्थान एक साथ ही भव्य और भयावह है। इस अद्‌भुत संगम में जाह्नवी के नीलवर्ण और भागीरथी के दूधिया जल को स्पष्ट ही देखा जा सकता है। लेकिन नीचे देखना दुस्साहस है। दृष्टि झुकते ही तन-मन सिहर उठते हैं। नीचे अनंत गहरी घाटी, ऊपर अनंत ऊँचे शिखर, उसके भी ऊपर आकाश से बातें करते हुए देवदारु के वृक्ष। कहते है कि इन्ही वृक्षों के बीच में कभी नीलगगा का झूलता पुल था। बहुत-से यात्री उसको पार कर सकने का साहस नही कर सकते थे। इसी सगम को प्रणाम करके लौट आते थे। अभी भी अतरिक्ष मे 350 फुट की ऊँचाई पर उसके अवशेष दिखायी देते है। कुछ भाग मुडा-तुड़ा असहाय-सा नीचे धारा में पड़ा है। अब फिर इस पुल को पक्का बनाने की योजना है, क्योंकि सैनिक दृष्टि से यह मार्ग हमारे लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अतिम आधा मील की व्यूह पथवाली चढ़ाई सचमुच ही दम तोड़ देती है। अचानक देखा कि कोलाहल मच उठा है। एक वृद्धा बुरी तरह रो रही है। अपना सब-कुछ एक पोटली में बांधकर वह उसे सिर पर रखकर चल रही थी। चट्टान का सहारा लेते हुए सहसा वह पोटली भागीरथी की अगम्य घाटी की ओर गिर पड़ी। सब कुछ लुट गया, यह सोचकर वह वृद्धा निष्प्राण हो आयी। लेकिन सयोग देखिये, पोटली कुछ गज नीचे जाकर एक चट्टान मे अटक गयी थी। एक दुस्साहसी ने नीचे उतरकर उसे उठा लिया। वृद्धा जैसे जी उठी।

यात्रा का अत समीप है। इसीलिए बुरी तरह त्रस्त होकर भी न जाने किस अदम्य विश्वास के सहारे हम शिखर पर पहुँच जाते हैं। साढ़े छह मील का यह कसाले का मार्ग हमने तीन घंटे मे तय किया। शिखर पर एक छोटा-सा पठार है। उस पर बनी हुई है एक धर्मशाला, दो-तीन दुकानें और भैरव का छोटा-सा एक मंदिर। लेकिन प्रकृति यहाँ बहुत मादक हो उठी है। अत्यत सुरम्य वनश्री, विधाता की ओर उन्मुख देवदारु की मनोरम वृक्षावली, मानो पक्षीगण पंख खोले तप मे लीन हों या फिर अपनी आकाश-निवासिनी प्रेमिकाओं से प्रेमालाप कर रहे हों। शब्द वहाँ मौन हो रहता है। उनके पीछे हैं वे गगनचुम्बी हिमशिखर, जो इस तन्मयता को देखकर मुग्ध हो उठे हैं। इनके बीच से बहती हुई शीतल मंद वायु तन-मन की सारी थकान को क्षण भर में तिरोहित कर देती है। शीतकाल में कैसी मनोरम लगती होगी यह शांत, मौन प्रकृति, जैसे कोई योगिनी समाधिस्थ हो गयी हो। लगभग 9,200 फुट की ऊँचाई है, लेकिन यहाँ का शीत

1. देखें परिशिष्ट।

इतना कष्टप्रद नहीं है। धर्मशाला सुन्दर भी है और बड़ी भी। लेकिन भीड़ इतनी कि बड़ी कठिनता से एक कमरा मिल पाया। हम सब उसमें सो नहीं सकते। तब सोने का स्थान प्राप्त करने के लिए हमने और दूसरे यात्रियों ने जो जोड़-तोड़ और जो प्रयत्न किये, वे आज के विश्वयुद्ध को बचाने के लिए किये गये प्रयत्नों के समान ही अद्‌भुत थे।

यमनोत्री के मार्ग पर जाते हुए अनेक व्यक्तियों ने हमसे कहा था कि गंगोत्री का मार्ग अपेक्षाकृत सरल है, परंतु भटवारी, सुक्खी और भैरवघाटी की संकटापन्न चढ़ाई के बाद हम उन बंधु से सहमत नहीं हो सके। परंतु इस ओर की प्रकृति निश्चय ही अत्यंत ऐश्वर्यशालिनी है, इसीलिए मार्ग सुगम मालूम होते हैं। यह ऐश्वर्य जैसे सारी थकान को सहला देता है। सामने ही म्याहृण नाम की एक चोटी दिखाई देती है। अस्ताचलगामी सूर्य की किरणें जब उस पर पड़ती हैं तो उसकी रक्तिम आभा मन में उतर जाती है।

आज फिर माँ की याद हो आयी। लखनऊ वाली माता जी ने बड़े स्नेह से परांवठा खिलाया, जैसे कभी बचपन में माँ खिलाया करती थी। घी-नमक लगाकर गोली बनाकर। पेट के कष्ट के कारण परांवठे छोड़े युग बीत गया। पर माँ के हाथ का विष भी अमृत हो रहता है। उन मातृस्वभावा प्रेमिल महिला के हाथ उस रात वही अमृत मिला। विधाता हर कहीं स्वयं नहीं जा सकता, इसीलिए उसने माँ का निर्माण किया है।

यद्यपि हमारा कमरा स्वच्छ, सुदर और लकड़ी का नया-नया बना है फिर भी उसमें बारह व्यक्तियों के सोने की संभावना नहीं है। रिमझिम-रिमझिम वर्षा होने लगी। उसने देवदारु के सान्निध्य में सोने की संभावना को भी समाप्त कर दिया। तब साम, दाम, दंड, भेद से, किसी तरह बोझियों और दूसरे सेवकों को पड़छत्तियों में स्थान दिलाया। उनमें बस लेटा ही जा सकता है। लेकिन इन दुर्गम मार्गों पर 'एंरडोऽपि द्रुमायते'—इस न्याय के अनुसार उनका महत्व राजमहल से भी अधिक होता है। यह सब करने के बाद भी यशपाल जी को बाहर बरामदे में सोना पड़ा। "सबको असुविधा हो, इससे तो अच्छा है, मैं ही थोड़ी-सी असुविधा क्यों न उठा लूं!" यह उनका तर्क है। किसी एक को यह असुविधा उठानी ही थी। यह सौभाग्य उन्हीं को मिला। लेकिन जिसे हमने थोड़ी-सी असुविधा की संज्ञा दी है, वह अंत में भयंकर प्रमाणित हुई। उस रात बरामदे का दृश्य सचमुच अद्‌भुत हो उठा था। काश! कोई चलचित्र बनाने वाला होता। आदमी से आदमी सटे पड़े थे और उनमें भी थे अधिकाश साधु लोग। गांजा-सुलफा उनका प्राण है। निरंतर पिये जा रहे थे और वह धुआं हम सबके तन-मन पर साँप की गुंजल की तरह घिरता आ रहा था।

यशपाल जहां लेटे थे, वह स्थान ठीक हमारे कमरे के बाहर था। उनके एक

ओर था एक साधु, दूसरी ओर थी एक साध्वी। दोनों बंगाली थे। पर साधु जितना शांत और सौम्य था, साध्वी उतनी ही चंचल और वाचाल, उस पर ज्वर-ग्रस्त। जमनोत्री के मार्ग पर उसे भीख माँगते देखा था। उस दिन भी भीख माँग रही थी। बातें करते-करते सहसा वे शब्द-युद्ध में उलझ गये। इस युद्ध के बीच यशपाल सव्यसाची की तरह लेटे थे। साधु न गाँजा पीता था, न सुलफा। मानता था कि ऐसा करने से भगवान के चरणों में प्रीति नहीं होती, परन्तु वह साध्वी तीव्र स्वर में उसका प्रतिवाद किये जा रही थी, "कैसे नहीं होती? दम लगाते ही प्रभु के चरणों में पहुँच जाते हैं।"

उनकी ये बातें सुनकर कुछ देर तक हमारा मनोरंजन होता रहा, लेकिन फिर मन दुखी हो उठा। बहुत देर तक वे दोनों अपने-अपने पक्ष को नाना तर्क-वितर्कों से पुष्ट करते रहे। दोनों आग्रही हैं। किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रश्न नहीं उठता। दूसरे साधु-सन्यासी भी नशे में बड़बड़ा रहे हैं। सोचने लगा, किस अज्ञान में पड़े हुए हैं ये लोग? इनके जीवन का अंतिम लक्ष्य भगवे वस्त्र पहनकर क्या भीख माँगना और गाँजा-सुलफ़ा पीना ही है? क्या ये ही चतुर्थ आश्रम के गौरव और धर्म के रक्षक हैं? छि. छि.!

उस सुरम्य प्रदेश में वह रात सचमुच नरक की रात बन गयी। अधोवायु, अपानवायु और गाँजे-सुलफे की गंध, वर्षा की झड़ी और वह अटपटा कोलाहल। कुछ लोग बैठे हैं, कुछ गा रहे हैं, कुछ पैरों को पेट में सिकोड़े एक-दूसरे से सटे पड़े हैं, एक-दूसरे की चादर खींच रहे हैं। कमरे के भीतर हम लोग भी सो नहीं पा रहे। बाहर का गंदा धुआँ शीत के भय से जैसे अंदर जाकर घुटता जा रहा है। हम व्याकुल-विवश, इस दृश्य के मूक साक्षी मात्र बने रहे।

अभी रात शेष थी, पर प्राणवायु के लिए व्याकुल होकर मैं बाहर निकल आया। देखता हूँ, गहरी धुंध ने सब कुछ को ग्रस लिया है। मेघ सघन और वाष्प-संकुल हैं। न है भव्य हिम-शिखर, न है गगनचुम्बी देवदारु। तरल पारदर्शी अंधकार में से बस एक विराट छाया ही परिलक्षित होती है। फिर भी कुछ लोग सारी रात मुक्त आकाश के नीचे वर्षा की रिमझिम में बैठे रहे हैं। बीच में अलाव जल रहा है। उसके चारों ओर गोलाकार पंक्ति में बैठे हैं ये ग्रामीणजन, जिनकी श्रद्धा की कोई थाह नहीं है। कैसा है श्रद्धा का यह आल-जाल, जो मनुष्य को भयंकर-से-भयंकर बाधा से जूझने की शक्ति देता है! सुख-दुख के द्वन्द्व से ऊपर उठा देता है। न है राशन, न है रोशनी के लिए मिट्टी का तेल। पानी का भी अकाल है। कहीं दूर से टीन की एक नाली बनाकर पानी लाया गया है। चौकीदार चीख-चीख कर कहता है, "कितनी लकड़ी पड़ी हुई है, लेकिन कोई धर्मशाला बनाता ही नहीं।"

मे आ गये हम। पैदल कैसे पार किया होगा आपने यह मार्ग ?"

आश्चर्य मुझे भी होता है। उत्तरकाशी से अब तक पांच हजार फीट ऊपर आ चुके हैं हम। गंगनानी तक हम 27 मील चलकर 2,400 फीट चढ़े थे, लेकिन गंगनानी से सुक्खी तक कुल नौ मील का फ़ासला है पर चढ़ाई है। 2,650 फीट तब कितना कष्ट और अब कितनी सुविधा !

मनुष्य के लिए अगम्य कुछ नहीं है। विज्ञान और तकनीक के सहारे वह सब कुछ को जीत सकता है परन्तु मन...!

जाने दें मन की बात। वह किसके बस मे आया है ? वायु खूब शीतल हो उठी है। मन को अच्छा लग रहा है और जीप फिर आगे बढ़ चली है...।

कुछ क्षण बाद स्वामीजी कहते हैं, "देखो, हम हरसिल पहुँच गये।"

चौंक पड़ता हूँ मैं, "हरसिल। कहाँ ?"

"वह उस पार है, देखो।"

सचमुच वह हरसिल था, पर बस-पथ तो इस ओर से जाता है। हम वहाँ नहीं पहुँच सकते। याद आ गया बारह वर्ष पूर्व का पुलों पर से कलकल करते झरनों-नालों को पार करना। जाड़ जाति की उस सुन्दरी से उसका चित्र उतारते बातें करना। अब तो वह प्रौढ़-माँ बन गयी होगी। समय कहाँ है उसे ढूंढ़ने का ? कवि की कल्पना ही उसके पास पहुँच सकती है।

न देख सके ध्वजाएँ, न विल्सन का बँगला। सेबों के उपवन हैं, पर यहाँ के सेब मीठे नहीं हैं। देवदार के सुन्दर वन अब भी बुला रहे हैं। कुछ देर रुके फिर भी। नीचे बाजार में गये। वैसा ही है जैसा किसी भी बस-स्टेशन के पास उभर आता है—गन्दा, तंग और कोलाहल से पूर्ण। अच्छा नहीं लगा, पर भोजन किया। स्वामीजी ने कुछ लोगों से बातचीत की। हमारा परिचय दिया। एक पत्रकार बन्धु भी मिले।

यहीं पर मिले नेहरू पर्वतारोहण संस्थान के डायरेक्टर—कर्नल जे० सी० जोशी। जितने सज्जन हैं उतने ही दक्ष हैं अपने कार्य में। कितनी गति है उनके पैरों मे ! ऊँचे अगम्य-मार्गों पर सहज-भाव से चढ़ जाते हैं। जब भी मार्ग में मिले मैं उनके पैरों की गति को ही देखता रहा।

आगे छाया-पथ वैसा ही समतल-शीतल, वृक्षों से आच्छादित। इसके बाद फिर दृश्य कुछ बदल जाता है। जांगला चट्टी के बाद लंका पर आकर सब वाहन रुक जाते हैं। नदी पर पुल नहीं बन सका अभी। सौ दो किलोमीटर की उतराई-चढ़ाई के बाद भैरों घाटी पहुँचेंगे। जीप को विदा कर देते हैं।

इस समय बहुत ज्यादा भीड़ नहीं है। अब हम पाँच प्राणी सामान [illegible] को संभलवा कर नीचे उतरने लगते हैं। मुझे लगता है, कहीं सुमित्रा कष्ट अनुभव न करे, पर वह तो सहज भाव से मेरे साथ उतरती चली जाती है।

अच्छा लग रहा है उसे। अतुल चित्रकार रामगुप्त के साथ आगे है। उसका हाथ सूजता जा रहा है। हैजे का टीका इसका कारण है।

दृश्य वैसे ही है। उन्मादिनी नीलवर्णा जाडगंगा (जाह्नवी) को देखा। शान्त दूधिया जल वाली भागीरथी को देखा और देखा उनके उस उन्मादकारी चिर मिलन को। संगम सदा सुखदायी होते है।

कुछ दिन पूर्व उप-राष्ट्रपति गोपालस्वरूप पाठक गगोत्री आये थे। उन्ही की सुविधा के लिए ये मार्ग सुगम बनाये गये है। हमें उतरने-चढ़ने मे कोई विशेष कठिनाई नही होती। काश ये महत्त्वपूर्ण व्यक्ति इन दुर्गम मार्गों पर बार-बार आवे और ये मार्ग सुगम बनते रहें।

बारह वर्ष पूर्व के दृश्य यहां वैसे के वैसे हैं, भव्य और भयावह। नीचे अगम्य गहरी घाटी और ऊपर गगनचुम्बी शिखर...भागीरथी ने अपनी गति से पत्थरो मे जिस स्थापत्य को उकेर दिया है उसे देखते-दिखाते पहुँच गये भैरो चट्टी पर। प्रकृति उतनी ही मोहक है, पर यात्री कही भी नही है। सब स्थान खाली हैं और सन्नाटे ने सब कुछ को ग्रस लिया है।

सुशीला प्रसन्न है। कहती है, "व्यर्थ ही डरा दिया था आपने। मुझे तो न भय लगा, न कोई विशेष कठिनाई हुई।"

मैं शान्ति की साँस लेता हूँ, पर बारह वर्ष पूर्व के दृश्य स्मृतिपटल पर बार-बार आघात करते हैं—वह नरक, वह भयावह कोलाहल, यह उदासीन सन्नाटा और मन का आनन्द...पर हमे तो आगे जाना है। ढाई बज चुके है और बस पौने चार पर चलती है।

सहसा मेरे कानो मे वह पुरानी चीख टकरा गयी, चौकीदार ने चीख-चीख कर कहा था, 'कितनी लकड़ी पड़ी हैं, लेकिन कोई धर्मशाला बनाता ही नही।'

वह धर्मशाला बन गयी है। प्रगति हर कही है।

ग्यारह वर्ष बाद 30 सितम्बर, 1981 को जब हम एक बार फिर उत्तर-काशी से गगोत्री की ओर जाने वाले चिरपरिचित मार्ग पर रवाना हुए तो आशा कर रहे थे कि अपने गन्तव्य पर छह-साढे छह बजे तक पहुँच जायेंगे, परन्तु गंगनानी और डबराली के बीच बस-मार्ग के वर्षा के प्रकोप से टूट जाने के कारण हमे चैक-पोस्ट पर रुकना ही नही पड़ा, गति भी धीमी कर देनी पडी।

गगनानी तक मार्ग सहल था। पहले जैसा निर्जन नही, बल्कि गुंजान और जीवन से भरपूर। मनेरी माली प्रोजेक्ट के कारण स्थान-स्थान पर निर्माण कार्य चल रहा है। अधिकारियों के आवास-गृह और श्रमिको की बस्तियां बस गयी हैं। कितना समृद्ध हो उठेगा यह प्रदेश, सन् 1958 में पांव-पैदल इधर की यात्रा

करते समय सोचा भी न था, पर शंकालु भी कम नहीं हूँ। उन्हें भय है कि बहुत क़ीमत चुकानी पड़ेगी इस सम्भावित समृद्धि के लिए। रहने दें इस विवाद की बात अभी। समय अपनी गुंजल में लेकर सब-कुछ को बदल देता है। गगनानी के सुप्रसिद्ध गर्म कुंडों की दिशा में देखते-देखते फिर पुरानी स्मृतियाँ उभर आयीं। अब यहाँ सड़क निर्माण विभाग और पुलिस के आवास-गृह बन गये हैं।

चैक-पोस्ट तक के मार्ग पर विशेष अवरोध था। सेना और निर्माण विभाग के अधिकारी बड़ी तत्परता से उसे दूर करके बस-पथ को यातायात के योग्य बनाने में लगे थे। बड़े गहरे बहती है भागीरथी यहाँ। वैसा ही उन्नत भाल है हिमालय का। नंगी चट्टानें भय पैदा करती है और राह सँकरी है, लेकिन मनुष्य है कि झुकता नहीं, इन सारी चुनौतियों को झेलता है।

चैक-पोस्ट के दोनों ओर कई बसें, कारें और जीप इस आशा में खड़ी थी कि 'सब ठीक है' का संकेत मिले और वे अपने-अपने गन्तव्य की ओर बढ़ चलें। हमारी ओर अनेक सुन्दर-सुन्दर कारें खड़ी थी। कलकत्ता से एक उद्योगपति के परिवार के लोग यात्रा पर आये हैं। वे यात्रा पर हैं या पिकनिक पर, नहीं जान पाया। अनेक सुन्दर युवतियाँ थी उस दल में, सर्वोत्तम वस्त्रों में आवेष्टित किसी सौंदर्य प्रतियोगिता में जा रही हों जैसे। खुदा की कुदरत। कभी मैं उनको देखता, कभी नंगी चट्टानों को। मेरे देश की युवतियाँ सचमुच साहसी होती जा रही है—लेकिन उनका दुर्भाग्य, किसी को भी आगे जाने का सकेत नहीं मिला। हमारी जीप और सैनिक वाहनों को छोड़कर सबको निराश लौटना पड़ा। एक क्षण को मन में हुआ कि उनसे कहूँ—दो युवतियाँ चाहें तो हमारी जीप में आ सकती हैं। हमारे सरदारजी निरंतर मार्ग-भाड़ा लेकर यात्रियों को बैठाते-उतारते आ रहे थे, लेकिन इस देश में अभी इतनी स्वतंत्रता नहीं है। वे लोग गरदन हिला-हिला कर लौट गये।

आगे की यात्रा बहुत सरल नहीं थी। आगे-पीछे हम सेना के भारी वाहनों से घिरे थे। धीरे-धीरे आगे बढ़ते और वातावरण पर दृष्टि डालते। उस समय पुरानी स्मृतियाँ सहज ही उभर-उभर आती थीं और बदलते विश्व-परिदृश्य के संदर्भ में इस भूखंड के महत्व को आँकने की आकांक्षा जाग जाती थी कि सहसा हमारी जीप रुक गयी। निर्माण-विभाग का भारी वाहन दलदल में धँस जाने के कारण आगे नहीं बढ़ पा रहा था। मोड़ पर मार्ग बहुत सँकरा है। तनिक-सी असावधानी उसे गंगा के गर्भ में ले जा सकती थी। परन्तु सौभाग्य से सेना के बहुत-से जवान साथ थे। सभी की सम्मिलित शक्ति उसे उबार कर आगे धकेलने में समर्थ हो गयी। तब हमने एक सुविधाजनक मोड़ पर उनसे आगे निकल जाना उचित समझा।

इसी मार्ग पर वह स्थान भी है जहाँ कानोडिया गाड ने गाग भीरत् भंडे में

एक बड़े भूखंड को ही नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर दिया था, बल्कि नीचे चल रहे निर्माण-कार्य को भी अपार क्षति पहुँचाई थी। कुछ समय पूर्व बन गयी एक विशाल झील सहसा टूटी और पानी की एक गहरी मोटी दीवार प्रलय की गति से हुंकारती हुई नीचे उतरी और मार्ग मे आने वाले सब कुछ को नामशेष करती दौड़ती चली गयी गगा के साथ। पथ, घाट, लौह-पुल, विशाल वृक्ष, मनुष्य, पशु और चट्टान—कुछ भी तो नही बच पाया उसके दारुण प्रकोप से। आज सब कुछ शांत है, परन्तु देखने पर स्पष्ट लगता है जैसे पर्वत के एक बड़े भाग को निर्दयतापूर्वक तोड़कर अलग कर दिया हो किसी ने। जैसे किसी हिंसक पशु ने मनुष्य के बदन को क्रूरतापूर्वक चबा डाला हो।

दूर-दूर तक भग्नावशेष बिखरे पडे थे गगा के गर्भ में और याद दिला रहे थे कि यह शकर का प्रदेश है। किसी बात पर कुपित हो गये होंगे वे और उन्ही के संकेत पर किसी वीरभद्र ने एक बार फिर दक्ष-यज्ञ का ध्वस किया होगा यहाँ। सहसा एक विचार कौंध गया। ऐसा ही कोई दृश्य देखकर उस युग के कवि ने गंगावतरण की कल्पना नही की होगी क्या? तब शकर थे, गंगा के वेग को लीलकर उन्होंने उसे अपनी जटाओं में बन्द कर लिया था, लेकिन कलिकाल के इजीनियर शंकर की सामर्थ्य कहाँ पा सके है! इसीलिए जूझ रहे हैं अभी। हमारी जीप भी समय और पथ से जूझती चैक-पोस्ट और छावनी को पार करती लका पहुँच गयी। सवा मील की उतराई-चढाई के बाद भैरो घाटी से दूसरा वाहन लेना होगा हमे।

आगे बढ पाते, इससे पूर्व एक पुलिस अधिकारी से भेंट हो गयी। स्वामी जी को सभी पहचानते है इस प्रदेश मे। आदर भी देते है उन्हे। उन्होंने ही मिलवाया उससे हमें। दुर्भाग्य हमारा, सोमरस का सेवन किये हुए था उस समय, न जाने किस प्रसग मे साधुओ के प्रति घृणा उबल उठी उसके अन्तर में। उनके अनाचार और व्यभिचार का ग्रैफिक चित्रण करते हुए बोले वह, "लज्जा तो मुझे उन तीर्थ-यात्रियों पर आती है जो अपनी बहू-बेटियो को इनको सौंपकर जंगल मे लकड़ी बीनने चले जाते है। बेचारी...साधु को वे कैसे मना कर सकती है! वे तो प्रभु हैं।"

सोचता हूँ, क्या कोई साधु यही कुछ न कहेगा इस अधिकारी के बारे में? कौन दोषी है इस अवस्था के लिए? व्यक्ति कि व्यवस्था? लगता है कि विधान ही गड़बडा गया है विधाता का...।

पर हमें तो भैरो घाटी पहुँचना है। सध्या घिरी आ रही है। वाहन नही मिला तो...!

इसलिए हम जल्दी-जल्दी नीचे उतरने लगे। वही जाना-पहचाना मार्ग, वही मोहक वनश्री। वही नीचे से उठती कल-कल ध्वनि। पन्द्रह मिनट भी नही लगे

पुल तक पहुँचने में। पूजा की छुट्टियाँ हैं। अनेक बंगाली परिवार है साथ में। पर अवरोहण जितना सहल था आरोहण उतना ही कठिन हो रहा। बार-बार साँस फूल जाती। रुक कर सहेजता उसे। देखता कि साथी स्वामी जी के साथ बहुत आगे हैं। स्वामी जी रुकते है। मैं कहता हूँ, आप चलें मैं पहुँच जाऊँगा। पर अंतर मे डर समाता जा रहा है—तपोवन की चढ़ाई कैसे संभव होगी ?

ऊपर देखता हूँ—यही तो है बस, पर मोड़ छल कर जाता है। अभी और है...।

स्वामी जी पुकारते है, "यही है भैरों घाटी।"

दूर से आते यात्रियों के स्वर कानों मे पड़ते है। पैरों मे गति बढ़ जाती है और मैं देखता हूँ यात्री विश्राम-गृह, टूरिस्ट-होम, सीमा पुलिस का आवास-गृह और चाय की दुकानें, सदा की तरह काली-काली, अभाव का प्रतीक...।

साथी कहते है, "अब गंगोत्री जाने की कोई वाहन तैयार नही है।"

स्वामीजी घोषणा करते हैं, "डाक-बँगला तो है। रात यही रहेंगे।"

और वे व्यस्त हो उठते है। हम वही एक दुकान पर बैठ जाते है। घिरता आ रहा अँधेरा, उसमें टिमटिमाते यहाँ-वहाँ तेल प्रदीप, गूँजते कुछ स्वर, यात्री प्रायः यहाँ नही रुकते। वे ही लोग है जो होने को विवश है—चाय की दुकानवाले, पुलिस, सेना और दूसरे कुछ अधिकारी चौकीदार। कितने भवन, कितने विश्राम-स्थल ! 1958 मे एकाकी धर्मशाला थी। भैरो का मदिर भी है, पर अब वह गौण हो गया है। सरलप्राण पहाडी व्यापार के सही अर्थ जान गया है। तीर्थों मे व्यापार होता है, धर्म और सस्कृति का प्रसार नही। मंदिर के जो जितना पास होता है भगवान से उतना ही दूर। प्रकृति की पवित्रता भी अब प्रदूषण का शिकार हो गयी है।

स्वामीजी पहचानते हैं सबको। एक दुकानदार अन्ततः खाना बनाने को तैयार हो जाता है। सुना कि खालिस्तान के समर्थक एक भारतीय वायुयान को हाईजैक करके पाकिस्तान ले गये है। उत्सुकता बढी। ट्राजिस्टर था दुकान मे। खाना खाते-खाते सुना—उन लोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया। सब यात्री सुरक्षित हैं...। चैन की साँस ली हमने। उस अंधकार मे जैसे प्रकाश चमका। यात्रा में शेष संसार से कट रहता हूँ मैं, फिर भी ऐसे समाचार रोमांचित कर जाते हैं।

डाक-बँगले में सब ठीक है। सब सुविधाएँ हैं जैसी कि हो सकती है। पलँग है। बाथरूम है। हम धीरे-धीरे अपने-अपने स्लीपिंग बैड में घुस जाते हैं। जहाँ स्वामी जी होते हैं, सब ठीक हो जाता है। बातें करते-करते कब नींद आ जाती है, पता नही लगता। गहरी नींद के बाद आँख खुलती है तो पाता हूँ, दो बजे हैं और सब कहीं सन्नाटा है।

मैं फिर आँख मीच लेता हूँ। मीचता रहता हूँ जब तक पाँच नही बज जाते। साथी उठ गये हैं। अभी आगे जाना है न।

जहाँ भगीरथ ने तप किया

प्राचीन तीर्थ-स्थानों की यात्रा करते समय मन में नाना प्रकार के विचार उमड़ते-घुमड़ते रहते है। आज के वैज्ञानिक युग में पुराण-कथाओं को वैसे-का-वैसा स्वीकार करना सम्भव नही होता। उसके गूढार्थ की तलाश करते हैं हम। स्वामी तपोवनम् जी महाराज ने अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग इस प्रदेश मे बिताया था। आज से पचास वर्ष पूर्व इन दुर्गम स्थानों की यात्रा करते समय अनेक सुरम्य स्थानों को खोज निकाला था उन्होंने। तब पुराण-कथाओं लेकर उनके मन मे भी प्रश्न घुमड़े थे। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिमगिरि-विहार' में उन्होंने इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया है :

> "गंगा एव गगोत्री तथा राम एवं रामेश्वर को ईश्वर-रूप अथवा ईश्वरीय शक्ति से सम्पन्न विशिष्ट वस्तु सिद्ध करने मे शिष्ट परम्परा एवं पुराण-वचनो के प्रति श्रद्धा को छोड़कर न्यायवाद या प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नही हो सकते। इतिहास मे ऐसी कई कहानियाँ आती हैं जिनके अनुसार अनुमान-कुशल बुधजनों ने भी अध्यात्म-विषय की आकांक्षा में पांडित्य के गर्व को त्यागकर श्रद्धादेवी की उपासना की है।...श्रद्धा की लकडी के बिना अति विकट एव दुर्गम अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए गतव्य स्थान पर पहुँच पाना नितान्त असम्भव है।"

एक पाश्चात्य दार्शनिक का उद्धरण देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है :

> "अयथार्थ आख्यायिकाओं और विवरणों के बिना सत्य को उसके नग्न रूप में दुनिया के सामने प्रस्तुत करना सम्भव नही है। अयथार्थ विवरणों के आवरण के बिना सत्य का शुद्ध और अभिन्न रूप मे पालने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति उस व्यक्ति के समान है जो जल को अलग पाने की इच्छा में उसके आधारभूत घडे को तोड़ डाले...।"

भागीरथी की महिमा को प्रकट करने की दृष्टि से पौराणिकों ने भी कई चमत्कारिक उपाख्यानों का प्रयोग किया है। उनके वर्णन मे कितने ही प्ररोचक

अंश क्यों न हों किन्तु यह तो त्रिकाल सत्य है कि भागीरथी अति अलौकिक और सर्वमान्य महिमामय और अद्भुत वस्तु है।

आज का तार्किक इस पर भी प्रश्नचिह्न लगा देता है। हम इस तर्कजाल में नहीं उलझना चाहते। स्वामी तपोवनम् जी महाराज ने ठीक कहा है कि जो श्रद्धा से पाया जा सकता है वह तर्क मे नहीं पाया जा सकता, लेकिन श्रद्धा का भी अपना एक स्तर होता है। वह अन्तर से उपजनी चाहिए। ओढ़ी हुई श्रद्धा तथाकथित नास्तिकता से कहीं विकृत और निकृष्ट होती है। अपनी इन यात्राओं मे हमने उसी विकृत श्रद्धा को पनपते देखा है। इसीलिए तीर्थों की महिमा का निरन्तर ह्रास हो रहा है। प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना और गगनचुम्बी अगम्य हिम-शिखरों पर आरोहण का अध्यात्म नाम की वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। वह सौन्दर्य, वैभव, शान्तिपूर्ण और आध्यात्मिक वातावरण अब नष्ट होता जा रहा है। 1958 की यात्रा मे जो श्रद्धा हमारे मन मे थी वह 1981 में नहीं रह गयी। इसका कारण विज्ञान के बढ़ते चरण उतना नहीं है जितना श्रद्धा का निरन्तर होता विकृत रूप। प्रमाण-स्वरूप हम फिर लौटें 1958 मे। कैसा लगा था तब हमें यह प्रदेश...?

-

सदा की भाँति उस दिन[1] भी हम लोग पाँच से पूर्व ही अपने अंतिम पड़ाव की ओर रवाना हो गये। तब पूर्व मे सूर्य की किरणों ने इन्द्रजाल की माया जैसा एक वितान तान दिया। जो चट्टानें सिमट गयी थी, वे पसरने लगी। मेघों की सघनता को चीरकर जब प्रथम किरण ने उनको छूआ तो प्रकृति लाज से लाल हो आई। दिग-दिगंत उस दीप्ति से उल्लसित हो उठे। हम भी रात की जुगुप्सा को भूलकर जैसे किसी स्वर्ग में पहुँच गये हों। प्रारम्भ में हलकी-सी चढ़ाई मिली, लेकिन गगनचुम्बी वृक्षों से आच्छादित और सूर्य की किरणों से दीप्त हिमशिखर भी पास आते जा रहे थे। उन्हीं को देखते हुए हम चट्टानों से भरे उस पथरीले आशाक-पातालगामी मार्ग पर आगे बढ़ते चले गये। डेढ़ मील पर हमने अखरोटों से घिरे मैदान को देखा। इसे 'अखरोट थायर' कहते है। उसे पार करके पहुँच गये नैंगचीपाट। यहाँ दुधारु गाय रहती है। यहीं से देवघाट के शिखर दिखाई देने लगते हैं। प्रपातों और सघन वनों ने तो जैसे हमे मोह ही लिया था। मार्ग की कठिनाई का पता ही न चला। विशाल चट्टानों ने अनेक भव्य दृश्यों का निर्माण किया है, पर वे विकराल और भयानक भी है। दूध इधर प्रचुर मात्रा में मिलता है। संभवत: उसी के सहारे साढ़े छह मील का यह मार्ग हमने दो घंटे में पार कर लिया। एक पठार को पार

1. 5 जून, 1958

करते ही हमने गंगा के उस पार एक सुन्दर बस्ती को देखा। यही तो गंगोत्री है। और क्या हो सकता है ? तभी एक बन्धु ने कहा, "गंगोत्री की मुख्य बस्ती इसी पार है। वे तो यहाँ रहने वाले साधुओं के मठ हैं।"

जिस समय हम गंगोत्री पहुँचे, सात बज रहे थे। 25 मई को जमनोत्री से चले थे और आज 5 जून को बारह दिन में लगभग 100 मील चलकर अपने लक्ष्य पर पहुँच गये। लक्ष्य-प्राप्ति और गंगोत्री के प्रथम दर्शन के कारण जो सुखद अनुभूति हमको हुई, उसको शब्दों में बाँधना कठिन है और अनावश्यक भी। ठहरने के लिए यहाँ काली कमली वालों की धर्मशाला के अतिरिक्त और भी धर्मशालाएँ हैं। घूम-फिर कर सभी स्थान देखे। काली कमलीवालों की धर्मशाला में जो सुविधाजनक कमरे थे, वे एक सेठ के दूत ने पहले ही घेर लिये थे। ये दूत हमें निरन्तर परेशान करते रहे। बड़ी कठिनता से नीचे के दो कमरे मिल सके। सामने हिम-शिखरों के चरणों में बहती पतित-पावनी भागीरथी है। दाहिनी ओर अन्नपूर्णा और भागीरथी के मन्दिर है। कहते हैं, वह मन्दिर उसी स्थान पर बना हुआ है, जहाँ भागीरथ ने तप किया था।

लो ! हिमशिखरों पर सूर्य की किरणें पड़ने लगीं। वे दीप्त हो उठे। दूरबीन से देखा तो 'रजत-स्वर्ण-प्लातिनम' के वे रंग मानो आँखों में समा गये। मन पुलक-पुलक उठा। परन्तु स्वीकार करूँगा, जिस सौंदर्य की कल्पना मैंने की थी, ये दृश्य उसको छूते भी नहीं।

यह प्रदेश गंगोत्री क्यों कहलाता है ? इसके दो कारण हैं। जिन स्थानों पर भागीरथी उत्तरवाहिनी है, उनमे एक यह भी है। दूसरा कारण इसका यह है कि यह स्वयं ठेठ उत्तर मे है। इसी कारण इसका नामकरण हुआ गंगोत्री[1]। यह समुद्र-तल से 10,390 फुट की ऊँचाई पर और टिहरी के टनकोर परगने में 21 अक्षांश और 75 दशमलव, 57 देशांतर पर स्थित है। कहते हैं कि 19वीं सदी के पूर्वार्ध मे गुरखा सेनानायक अमरसिंह थापा ने यहाँ गंगा का मन्दिर बनवाया था। लेकिन प्रकृति के प्रकोप से वह एक दिन टूट गया। इससे भी पूर्व एक और मंदिर यहाँ था। वह लकड़ी का था। आजकल जो मन्दिर है, वह जयपुर के महाराजा ने बनवाया है। पूजा के लिए यहाँ रावल या महंत की प्रथा नहीं है। मुखबा ग्राम के गृहस्थ पंडे ही सब व्यवस्था करते हैं। मंदिर के ऊपर दस छोटे शिखरों से घिरा हुआ एक बड़ा शिखर है। सूर्योदय के समय जब बाल-रवि की किरणें इन शिखरों पर पड़ती है तो उनका स्वर्णिम वर्ण बड़ा ही सुरम्य प्रतीत होता है। मन्दिर वैसे छोटा ही है। इन दुर्गम मार्गों पर बड़े मन्दिर सहज नहीं हैं। काका साहब कालेलकर ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है, "गंगोत्री में गंगा-मैया का मन्दिर इतना

---

1 इसका शुद्ध रूप 'गंगोत्तरी' है।

छोटा है, मानो किसी तप-पूत ऋषि की आद्य-प्रेरणा या धर्मस्फुरणा हो।" मन्दिर के गर्भगृह के केन्द्र में गंगा, जमुना की अत्यंत मनोहर नाना आभूषणों और मणि मुक्ताओं से विभूषित मूर्तियाँ हैं। इनके नीचे क्रमशः आद्य शंकराचार्य, महालक्ष्मी, अन्नपूर्णा, सरस्वती, भगीरथ और जाह्नवी की मूर्तियाँ हैं। शंकर और गणेश भी हैं।

भगीरथ की मूर्ति देखते ही मस्तिष्क में अनेक चित्र उभर उठे। इस सम्राट ने लोकहित की कामना से प्रेरित होकर इन दुर्गम प्रदेशों मे कितनी साधना की होगी! ऐसा लगा जैसे वे अभी भी शिखरों और घाटियों मे जल-प्रवाहों के लिए मार्ग खोजते घूम रहे हैं। उन्हें बांध रहे है कि मैदानों में बसने वाले असंख्य नर-नारियों के तन-मन की प्यास बुझा सकें, भूमि उर्वर बना सकें। पौराणिक कथा सत्य हो या न हो, लेकिन इतना अवश्य सत्य है कि भगीरथ नाम का एक नरेश निश्चय ही गंगा के उद्गम की खोज में इधर आया था। इन पर्वत-प्रदेशों में आज भी अनेक सिद्ध-पीठ ऐसे बताये जाते हैं, जिन पर बैठकर की गयी तपस्या कभी व्यर्थ नही जाती। दूसरा चित्र आद्य शंकराचार्य का है, जिन्होंने भारत की सास्कृतिक एकता के लिए न केवल चारों दिशाओं मे अपने मठ स्थापित किये, बल्कि 'उत्तर भारत के मठों में दाक्षिणत्य पुजारी होंगे' ऐसा नियम भी बना दिया। "हिमालय के इन शिखरों पर से दक्षिण और उत्तर दोनो दिशाओं में और भारत व तिब्बत दोनों देशों में धर्म-प्रवाह प्रवाहित कर अद्वैत के जीवन-सिद्धान्त की और सर्वैक्य के हृदय मे धर्म की लहर फैला देने का संकल्प भी उन्होंने यहाँ रह कर किया होगा।"[1]

भारत की सांस्कृतिक एकता हमारे पूर्वजों को इतनी प्रिय थी कि प्रत्येक सस्कार के समय पुरोहित जल की घटिका में गंगा, जमुना, गोदावरी, सरस्वती आदि सप्त सरिताओं का आह्वान करता है :

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिंधु कावेरी जलेस्मिन् सन्निधिं कुरू॥

वैदिक ऋषि उत्तर भारत की गंगा-जमुना के साथ दक्षिण की गोदावरी और नर्मदा को भी नही भूला है। शकर इसी परम्परा के अंतिम महान् दार्शनिक थे।

मंदिर का प्रबंध एक समिति के हाथ में है, जिसके पांच सदस्य हैं, एक मंत्री है। पांच पुजारी हैं और पांच ही उनके नायब हैं। बारी-बारी से वे सब पूजा करते है। इस मंदिर के समीप दो और मंदिर हैं—एक भैरव का, दूसरा शिव का। भैरव के मंदिर में भैरव और शिव की मूर्तियाँ है। शिव के मंदिर में शिवजी के पास संगमरमर के पट्ट पर शिव-पार्वती की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मंदिर के बाहर

---

1. हिमालय-यात्रा—काका कालेलकर, पृ० 177

नदी की छोटी-सी प्रतिमा है। कला की दृष्टि से कोई भी मंदिर उल्लेखनीय नहीं है। इनका महत्व केवल सहज सौंदर्य और मानव की श्रद्धा के कारण है। इस कारण भी है कि भारत के एक बहुत बड़े भू-भाग को उपजाऊ बनाने वाली, धनधान्य से भरने वाली अन्नपूर्णा-रूपिणी भागीरथी यहां धरती पर अवतरित होती है। प्राचीनकाल में भागीरथी का वास्तविक उद्गम गंगोत्री में ही रहा होगा। जिस हिमानी में वह निकलती दिखाई देती है, वह निरंतर पिघल रही है। इन हजारों वर्षों में उन हिमानी का दस मील पीछे हट जाना असंभव नहीं है।

भारतवासियों को सदा से प्रकृति से प्रेम रहा है। उन्होंने ब्रह्म की आराधना-उपासना सदा भयानक रूपमयी प्रकृति के प्रांगण में ही की है। भगवान वेदव्यास ने नदियों को विश्वमाता के रूप में माना है, "विश्वस्य मातरः सर्वा. सर्वशः चैव महाफला।" आध्यात्मिकता और भौतिकता का जो समन्वय गंगोत्री में दिखा देता है, वह शायद अन्यत्र दुर्लभ है। वास्तव में और किसी जाति या देश ने भूगोल को अध्यात्म का रूप दिया ही नहीं। इस प्रदेश में देवदार के सघन वन हैं जो न केवल मनोरम हैं, बल्कि हृदय को पवित्रता से भरने वाले हैं। पहाड़ी ढलानों और शिखरों पर खड़े ये तुंग-शीर्ष वृक्ष वनश्री की शोभा के मानो मानदण्ड हैं। कालिदास ने देवदार को शंकर का पुत्र कहकर उसकी महत्ता प्रकट की है। एक हाथी ने देवदार के सहारे अपनी कनपटी खुजलाई। वह छिल गया। उसे देखकर पार्वती ऐसी व्यथित हुई, जैसी बाणों से घायल कार्तिकेय को देखकर हुई थी। देवदार को देखकर मनुष्य को सचमुच ऐसा लगता है जैसे वह स्वयं विश्वात्मा के समीप पहुँच गया हो। प्रसिद्ध पर्यटक फ्रेजर 1815 ईस्वी में यहाँ आया था। उसने लिखा है—"यहाँ का दृश्य उस अद्भुत पवित्रता के अनुरूप ही है, जो उसके लिए मानी जाती है।" निश्चय ही डेढ़ सौ वर्ष पूर्व पवित्रता अधिक रही होगी। आज भी यद्यपि यहाँ का दृश्य उसकी पवित्रता के अनुरूप है, लेकिन फिर भी न तो केदारनाथ जैसी स्तब्ध कर देने वाली भव्यता है, न त्रियुगीनारायण की वनश्री का ऐश्वर्य है। बदरी विशाल के नर-नारायण जैसी रोमांचक शोभा भी यहाँ नहीं है। जिस प्रकार कहीं और गंगा बहती है, उसी प्रकार यहां भी गंगा के दर्शन होते है। मार्ग में मिलने वाली जाह्नवी में भागीरथी से कहीं अधिक विपुलता है।

शीत के कारण मन में दुविधा थी कि स्नान करें या पंचस्नानी से मुक्ति मिल सकती है। जल अत्यंत शीतल था। स्पर्श करते ही फुरफुरी आ जाती थी। फिर भी तीर्थ है, ऐसा सोचकर किनारे पर पहुँचा। देखता हूँ, कई साहसी पुरुष अन्दर प्रवेश करके पत्थरों के सहारे गोते लगा रहे हैं। यह जैसे मेरे स्वाभिमान को चुनौती थी। मैं तुरन्त अन्दर चला गया। फिर तो आँखें मूंद कर खूब गोते लगाये। ऐसा लगता था मानो शरीर हिमशिला होता जा रहा है, लेकिन बाहर आने पर जब बदन पोंछा तो अन्तर की ऊष्मा का परस पाकर जैसे सारी थकान दूर हो गयी।

अब तो सभी साथियों ने अंदर घुस कर स्नान किया। कमरे में लौटकर घोरपडे ने तापमान देखा तो 60 डिग्री था। कल्पना से तुरंत दिल्ली पहुँच गये। वहाँ का तापमान अवश्य 112 डिग्री के आस-पास रहा होगा। कहाँ यह अस्थिमज्जा को जमाने वाला शीत और कहाँ तन-मन को झुलसाने वाला ग्रीष्म ! कैसा विचित्र है हमारा देश !

तूफ़ान के बादल आज भी उमड़े थे। निकल भी गये। पत्र लिखे। तीन बज चले थे। शीत उग्र होने लगा कि तभी आ गये साधु किणी। यमनोत्री के मार्ग में हमसे परिचित हो चुके थे। गोमुख की चर्चा करते हुए बोले—"मैं चाहता था, पर जा न सका। बंगाली लोगों का एक दल आज ही लौटा है, परन्तु घबरा रहा है।"

गोमुख की चर्चा दो-तीन दिन से चल रही है। किणी महाशय संकेत मात्र पर अपने एक स्वप्न की चर्चा करने लगे। याद नहीं आता, गोमुख के प्रसंग से उसका क्या संबंध था। ऐसा लगता है, उनके बहुत-से काम स्वप्न से परिचालित होते हैं। गोमुख यात्रा के संबंध में उन्हें कोई स्पष्ट आदेश शायद नहीं मिला। अपने कश्मीर-प्रवास में उन्होंने स्वप्न में एक सात-आठ वर्ष की लड़की को देखा। वह उनसे कह रही थी, "हमारे घर जाओ।"

सवेरे उठे तो किसी भद्रजन ने उन्हें भोजन के लिए बुला भेजा। पूछा, "आप पूर्वाश्रम में क्या करते थे ?"

किणी महाशय ने उत्तर दिया, "मैं मैकेनिक था।"

वह बोले, "तब आप पास के अमुक गाँव में चले जाइये। एक इंजन खराब हो गया है, उसे ठीक कर सकें तो अच्छा होगा।"

वह वहाँ गये। क्या देखते हैं कि उस घर पर वही सात-आठ वर्ष की कन्या है, जो स्वप्न में आयी थी। चकित रह गये। उन्होंने इंजन ठीक किया और छह महीने तक वहीं घूमते रहे। इन्हीं गृहस्वामी ने उनकी अमरनाथ-यात्रा का प्रबंध किया था।

सभी स्वप्न सत्य नहीं होते, पर जिन स्वप्नों का संबंध अव्यक्त मन से है वे प्रायः सत्य हो जाते हैं। अरस्तू के अनुसार हमारा अव्यक्त मन हर समय काम करता रहता है। जागृतावस्था में सूक्ष्म मन आश्चर्यजनक रूप से सूक्ष्म अध्ययन को अपने पास सुरक्षित रखता है। यही साधारणतया स्वप्न बनकर हमारे सामने आता है। राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने 11 अप्रैल, 1865 की रात में एक स्वप्न देखा था। वह एक पार्टी में निमंत्रित थे और अत्यन्त उदास थे। पत्नी ने उदासी का कारण पूछा तो वह बोले—मुझे एक सपना याद आ गया है। अभी चार-पाँच दिन पहले देखा था। सहसा मैंने किसी के रोने का स्वर सुना। बिस्तर से उठकर उस दिशा में गया। चारों ओर प्रकाश जगमगा रहा था। परन्तु जब मैं पूर्व-

ओर एक कमरे मे पहुँचा तो देखा, किसी के शव के पास सैनिक विलाप कर रहे हैं। मैंने पूछा, "किसकी मृत्यु हो गयी है।"

सैनिक ने उत्तर दिया, "राष्ट्रपति लिंकन की। उनकी हत्या कर दी गयी है।"

उसके ठीक तीसरे दिन लिंकन की हत्या हुई। चुनावों के बाद उनकी हत्या की संभावना निरन्तर बढ़ती जा रही थी। लिंकन सुनते और हँस पड़ते, परन्तु उनके अव्यक्त मन में भय जड जमा कर बैठ गया था। वही भय सपना बन कर आया। किणी महाशय साधु हो गये थे, परन्तु अव्यक्त मन अभी मैकेनिक को नही भूल पाया था। शायद हम लोगो का अव्यक्त मन भी सदा यात्राओं के लिए उत्सुक रहता है, इसलिए कभी-न-कभी अवसर मिल ही जाता है।

हम लोग घूमने के लिए निकले। बाजार बहुत छोटा है, परन्तु सभी आवश्यक सामान मिल जाता है। उसे देखते हुए हम लोग पुल पर से होकर उस पार पहुँचे। देखते क्या हैं कि एक धारा ऊपर से उतावली-बावली-सी भागी चली आ रही है। दक्षिण दिशा में हेमकूट पर्वत है। उसी के पास है केदार हिमानी। वहीं से निकल कर उत्तरवाहिनी केदारगंगा भागीरथी मे अपने को विसर्जित कर देती है। इसी के आस-पास अधिकांश साधुओं के आश्रम फैले पड़े हैं। हम लोग उनके बीच से होकर सीधे ब्रह्मकुड पर पहुँच गये। यहाँ भागीरथी का रौद्र रूप देखकर सचमुच डर लगता है। ऐसा जान पडता है, मानो उन्मत्त भागीरथी तीव्र गति से छलाँग मारती हुई तीन धाराओं मे बँट कर उस कुंड मे कूद पड़ती है। उसके प्रवाह की तीव्रता और उसका प्रखर नाद पहले तो मन को कुछ कंपायमान कर देता है, फिर हृदय पुलकित हो उठता है। जल के सतत संघर्ष से चित्र और स्थापत्य कला के नाना नये रूप वहाँ दिखाई देते हैं। मानो किसी अदृश्य कलाकार ने युगो की सतत साधना के बाद उनका निर्माण किया हो।

ब्रह्मकुड के पास ही सूर्यकुंड है। ये दोनों कुड प्रवाह के वेग के कारण नष्ट होते जा रहे हैं। लेकिन गौरीकुंड आज भी उस प्राचीन कथा का स्मरण दिला रहा है, जिसके अनुसार शिव ने वेगवती गंगा के प्रवाह को अपनी जटाओं मे समेट लिया था और भगीरथ के तप करने पर ही उसे मुक्ति दी थी। भागीरथी की जो स्थिति इन कुंडों के आस-पास है, उसको देख कर निश्चय ही उस युग के किसी कवि ने यह कल्पना की होगी। एक स्थान पर मार्ग बहुत सँकरा है। उस पर एक विशाल चट्टान अड गयी है। उसी के असंख्य झरोखो में से बहती हुई भागीरथी शात होती चली जाती है। कथा आती है कि जब शिव ने यहाँ भागीरथी को अपनी जटाओं में धारण किया तो उस आघात से वह स्वयं पाताल मे धँसने लगे। भागीरथी उनकी चुनौती से क्रुद्ध हो उठी थी और अपने वेग मे उसने प्रलय की गति भर दी। गौरी आगे की चट्टान पर बैठी तप कर रही थी। उन्होंने जब शंकर

को रसातल जाते हुए देखा तो अपने तप के बल से भागीरथी को वही रोक दिया।

वस्तुत. नदी की धारा इस गह्वर मे जिस विशाल प्राकृतिक शिला पर गिरती है, उसे शिवलिंग कहते हैं। ऐसी मान्यता है कि भागीरथी की गति कितनी ही तीव्र क्यों न हो जाये यह पाषाण-शिला वही रहती है। उस पर चढ़ कर ही जल आगे बढ़ता है। साधारणतया वह दिखाई नही देती, परन्तु शीतकाल मे जब बर्फ जम जाती है तब वह दिखाई देती है। पानी का प्रवाह तब भी निरंतर बना रहता है। इस प्राकृतिक रचना को ही किसी धर्मप्राण व्यक्ति ने पौराणिक आख्यान का रूप दिया होगा। गौरीकुंड के दायी ओर ऊपर एक शिला पर छोटे-से मंदिर की आकृति उत्कीर्ण है। कहते है, यह वही मंदिर है जिसमे गौरी पूजा किया करती थी। भूरी चट्टान पर श्वेत रेखाओ से निर्मित यह आकृति कभी मिटती नही। पर यह अलौकिक या शाश्वत रचना है, इस पर सहज विश्वास नही होता। हो सकता है, इसके निर्माता ने ऐसी रासायनिक क्रिया द्वारा इसका निर्माण किया हो, जिससे ये रेखाएँ सहज ही नष्ट न हो सकें। इससे अधिक इस मंदिर का और कोई महत्व नही है।

गौरीकुंड की गहराई इतनी है कि ऊपर चट्टान पर खड़े होकर नीचे देखने से हृदय कांप जाता है। धर्मप्राण व्यक्ति मानते हैं कि यहाँ से आगे का जल सुदूर दक्षिण मे रामेश्वरम में चढ़ाने के योग्य नही रहता। न जाने किस दूरदर्शी ने भारत की सांस्कृतिक एकता को अक्षुण्ण रखने के लिए यह परिपाटी चलायी थी। इसके अनुसार गंगोत्री के यात्री यहाँ से गंगाजल ले जाकर ठेठ दक्षिण मे समुद्र के मध्य में स्थित रामेश्वरम के मंदिर में चढ़ाते हैं और रामेश्वरम से आने वाले यात्री अपने साथ सागर का जल लेकर ठेठ उत्तर मे हिमालय मे स्थित बद्रीनाथ में चढ़ाते हैं। गौरी कुंड में भी सेतु-बंध की रेती विधिपूर्वक समर्पित की जाती है। इस क्रिया को सेतु-तर्पण कहते हैं। क्या यह इस बात की द्योतक नही है कि भारत की सांस्कृतिक एकता की कल्पना सदा अखण्ड रही है? भौगोलिक सीमा के कारण उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम का भेद भले ही रहा हो, भारतवासियों के हृदय मे मानवता के स्तर पर कभी कोई भेद-भाव नही रहा, या कम-से-कम उन्होंने रखना नहीं चाहा।

इन कुंडों को देखकर ऐसा लगा कि भागीरथी के इस उग्र रूप को शान्त करने के लिए इस देश के इंजीनियरो ने कभी यहाँ बांध बनाया होगा। बाद मे किसी कवि ने अपनी कल्पना-शक्ति से उसे वह रूप दिया, जो आज भारत के जन-मानस पर अंकित है।

गौरी कुंड के पीछे वाला प्रदेश पटांगना अथवा पाण्डव धुना कहलाता है। महाभारत के युद्ध मे अपने परिवार वालों की हत्या का जो पाप पाण्डवों को . था, उसी का प्रायश्चित करने के लिए महर्षि वेदव्यास की आज्ञा से उन्होंने

देवयज्ञ किया था। इसी के पास रुद्रगंगा रुद्र हिमालय से निकलकर भागीरथी में प्रवेश करती है।

गंगोत्री में देखने के लिए इसके अतिरिक्त और कुछ विशेष नहीं है, लेकिन आस-पास अनेक सरोवर-सरिताओं के उद्गम स्थल और अन्य प्राकृतिक दृश्य हैं। अनेक साहसी यात्री इन स्थलों को देखने के लिए जाते रहते हैं। लेकिन अधिकांश गंगोत्री को ही अपना चरम लक्ष्य मानते हैं। गंगोत्री गंगा का उद्गम नहीं है। उसका उद्गम दस मील ऊपर गोमुख में है। वर्ष में मुश्किल से पन्द्रह-बीस यात्री ही वहाँ पहुँचते हैं। आगे जाने का कोई ठीक मार्ग नहीं है। दिशा-निर्देश तक नहीं है। यात्रियों को अपना मार्ग आप ही बनाना होता है। जाते समय जो मार्ग बनाया जाता है, लौटते समय भीषण वायु, हिमपात अथवा पर्वतों पर लुढ़क-लुढ़क कर गिरने वाले शिला-खण्डों की वर्षा के कारण वह नष्ट हो जाता है। हमारे दल के कई व्यक्तियों की गोमुख जाने की बड़ी इच्छा है। परन्तु ऋतु क्षण-क्षण में उग्र रूप धारण कर रही है। गदराये मेघ आकाश के पूरे विस्तार को घेरे हुए हैं। किसी भी क्षण वर्षा हो सकती है। और वर्षा होने पर वे मार्ग सचमुच अगम्य हो उठते हैं। इसलिए यह स्वाभाविक था कि दल के बुजुर्ग शंकित हो उठे। इसी ऊहापोह में एक व्यक्ति से भेंट हुई। वह थे स्वामी सुंदरानंद।

गंगोत्री के मार्ग पर हमें कई ऐसे व्यक्ति मिले थे, जो गोमुख होकर लौट रहे थे। उनमें एक महिला भी थी। वह अत्यंत त्रस्त थी। बोली, "गोमुख जाने के कारण मेरी यह दशा हो गयी है।"

हमारे एक साथी ने कहा, "हम भी वहाँ जाना चाहते हैं।"

महिला बोली, "नहीं-नहीं, आप उधर न जाइये। बड़ा विकट मार्ग है।"

क्या यह हमारे लिए चुनौती नहीं है? एक महिला उस भयंकर मार्ग से होकर गोमुख हो आयी और जीवित है। पुरुष होकर क्या हम नारी की सलाह को मान लें और पराजित हो जायें? किशोर माधव के रक्त में उबाल था और उत्तरदायित्व का अंकुश भी अभी उसने स्वीकार नहीं किया था। इसलिए भय से वह अभी अपरिचित था। उसने दृढ़ स्वर में कहा, "हम अवश्य जायेंगे।"

कुछ और आगे बढ़े। एक बंगाली युवक गंगोत्री से लौट रहा था। घोरपड़े को हैट पहने देखकर उसने पूछा, "कहाँ से आ रहे हैं और कहाँ तक जायेंगे?"

घोरपड़े बोले, "हम लोग दिल्ली के पत्रकार और लेखक हैं। गंगोत्री जा रहे हैं।"

उसने कहा, "आप गोमुख भी जायें। मैं वहीं से होकर आ रहा हूँ।"

घोरपड़े ने पूछा, "क्या हम गोमुख जा सकेंगे?"

उसने दृढ़ स्वर में कहा, "क्यों नहीं जा सकेंगे? आपको जाना ही चाहिए।

मार्ग विकट अवश्य है, पर अच्छा मार्गदर्शक आपको वहाँ ले जा सकता है।"

हम लोग उत्फुल्ल होकर नाना प्रकार के प्रश्न पूछने लगे। उसने हमें इस संबंध में पूरी जानकारी दी। मार्गदर्शकों के नाम भी बता दिये। कहा, "वहाँ एक ब्रह्मचारी हैं, स्वामी सुंदरानंद। वह अट्ठाईस बार गोमुख हो आये है। लगभग बीस हजार फीट ऊँची कालिन्दी हिमधारा को पार करके बदरीनाथ भी जा चुके है। उनसे आप अवश्य मिल लीजियेगा। सब-कुछ ठीक हो जायेगा।"

हमारे कुछ साथी उनसे मिले। आश्वस्त भी हुए, पर दल में जो हमारे शुभ-चिन्तक थे वे अब भी आश्वस्त नहीं हो पा रहे थे। मार्तण्डजी, भाभी, शोभालाल जी और काकी—इन चारों का तो न जाने का निश्चय था। माता जी भी नहीं जा सकती थी। माधव हर स्थिति मे जाने को तैयार था। घोरपड़े, यशपाल और मैं मध्यरेखा पर खड़े थे। जाने का सकल्प हमारा भी था, परंतु चारों ओर से भय और आशंका के जो मेघ घिरते आ रहे थे तथा प्रकृति का प्रतिक्षण बदलता रूप उन्हें जो बल दे रहा था, उसके कारण कभी-कभी मन डाँवाडोल हो उठता था। ऐसे समय स्वामी सुदरानंद स्वय हम लोगों के डेरे पर आये। श्यामवर्ण, सुदृढ़ शरीर, स्नेहिल नयन, तरल मुस्कान, निर्भीक, निश्छल उस सरल ब्रह्मचारी से सब लोगो ने प्रश्न पर प्रश्न करने आरम्भ कर दिये। दल की नारियाँ कुछ अधिक भयाकुल थी। स्वय गंगोत्री के रहने वाले हमें डरा रहे थे। पुलिस के दीवान ने भी कहा, "आपको इस समय वहाँ नहीं जाना चाहिए। रास्ता बहुत खराब है। आप लोग मेरा काम बढ़ायेंगे। पंचायतनामे की तैयारी करना भी यहाँ बहुत मुश्किल है।"

उसकी बातों से ऐसा लगता था जैसे हममें से किसी-न-किसी का मरना निश्चित है। उसका बातें करने का यह ढंग अच्छा नहीं लगा। घोरपड़े बोले तक नहीं उससे।

कुछ और व्यक्ति भी उधर जाने का विचार कर रहे थे। उनमें से कुछ कृतसंकल्प थे और कुछ आकाश की ओर देख रहे थे। स्वामीजी ने कहा, "आप जाना चाहते है तो जा सकते है। यदि मेरे साथ चलने से आप निश्चित निर्णय कर सकते हैं तो मैं चलने को तैयार हूँ। सवेरे नौ बजे मुझे बुला लीजिये।"

कोई परिचय नहीं। किसी तरह की कोई बाध्यता नहीं, फिर भी तुरंत तैयार हो गये। परिव्राजक ऐसे ही होते है। तब हमारा अनिश्चय न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। हमने कहा, "हम अवश्य जायेंगे।"

स्वामीजी जिस सहज भाव से आये थे, उसी सहज भाव से वापस लौट गये। कह गये, सामान कम-से-कम लें। पहनने के आवश्यक कपड़ों के अतिरिक्त दो-दो कम्बल साथ रखें। तीन दिन लग सकते हैं। उसके लिए चूरमे और खाने की अन्य वस्तुओं का प्रबंध कर लें।

चार बज चुके थे। वर्षा रुक गयी थी, परन्तु वे शिखर जो कल तक रीते थे अब हिम-सम्पदा पाकर शुभ्र श्वेत हो उठे। हम लोग यात्रा की तैयारी में जुट गये। चूरमे का भार महेन्द्र होटल को सौंप दिया। स्वामी जी ने जिस मार्गदर्शक की व्यवस्था की, उसका नाम था दलीपसिंह। वह एवरेस्ट-विजेता तेनसिंह के साथ ऊँचे-ऊँचे शिखर पार कर चुका था। मार्ग में भी उसके शौर्य की कहानी सुन चुके थे। लेकिन बाधाओं का अंत अभी नहीं आया था। सहसा आकाश भयंकर रूप से क्रुद्ध हो उठा। इधर की संध्याएँ साधारणतया भीगी रहती हैं। पर आज तो तूफ़ान के लक्षण थे। जब-जब ऐसा होता है, कई-कई दिन तक आकाश नहीं खुलता। इसलिए जा सकेंगे, ऐसा विश्वास से नहीं कहा जा सकता था। तभी एक साधु वहाँ आ गये। उन्होंने हमें असमंजस में पड़े देखा तो कहा, "आपका गोमुख जाना उचित नहीं है। पहाड़ की ढाल पर गिरते हुए मलवे में से केवल चार अंगुल के रास्ते पर से होकर जाना होता है। एक पत्थर से दूसरे पत्थर पर पैर रखकर आगे बढ़ना बहुत कठिन है। उस समय जिस पत्थर पर पैर रखा जाता है, वह अपनी जगह टिका रहेगा या यात्री समेत गंगा में समाधि लेगा, कोई नहीं जानता।"

सकट की बातें हम बहुत सुनते आ रहे हैं, पर मार्ग में मिले उस बंगाली युवक की मूर्ति बार-बार आँखों में उभर उठती है और गूँजने लगते हैं स्वामी सुदरानद के शब्द, "इतना सोचना-विचारना क्या ? चलिये, मैं साथ चलूंगा।"

अभी तक जिन व्यक्तियों के जाने की बात थी, वे सब पुरुष थे। दल में सब से कम आयु की महिला श्रीप्रभा थी। उसने यशपाल जी से पूछा, "क्या मैं भी आपके साथ जा सकती हूँ ?"

उसकी ऐसी इच्छा प्रकट करना बड़े साहस का काम था। यशपाल जी तुरत साथ ले जाने को तैयार हो गये। जो वयोवृद्ध थे, उन्होंने रोकने की चेष्टा की, लेकिन यशपाल जी ने स्पष्ट कहा, "तुम्हारा मन हो तो जरूर चलो।"

उस रात आठ बजे प्रार्थना की, फिर दूध पीकर सोने के लिए लेट गये। स्थिति तब भी स्पष्ट नहीं थी। बहुत कुछ ऋतु पर निर्भर था। साधु किणी की तरह स्वप्न में भी हमें कोई स्पष्ट या अस्पष्ट आदेश नहीं मिला।

बारह वर्ष पूर्व हम 31 मई को उत्तरकाशी से रवाना हुए थे और 5 जून को छह दिन में गंगोत्री पहुँचे थे। लेकिन अब 21 सितम्बर[1] की सवेरे 10.40 पर जीप में बैठे और उसी संध्या को 5.45 पर वहाँ पहुँच गये। विज्ञान आगे बढ़ेगा, समय

1. 1970

सिकुड़ेगा और मनुष्य समृद्ध होगा लेकिन मन...? फिर वही पुराना प्रश्न कौंध उठा मस्तिष्क में।

अभी मैं इससे आगे नहीं सोचना चाहता। मैं भूखा हूँ। मुझे प्रकृति का रूप-जाल नहीं, रोटी चाहिए। होती रहेगी प्रभु की आराधना, पहले मुझे भूख और रोग से मुक्ति दो...।

ऐसे प्रश्न बार-बार मन में घुमड़ते हैं। उनकी सार्थकता भी है। धर्मभीरु यात्री यहाँ आध्यात्मिकता की खोज में आते रहे हैं और यायावार प्रकृति के सौंदर्य पर मुग्ध हैं। इतिहास के पन्ने भी पलटता है यह। पर हम न सही अर्थों में यात्री हैं, न यायावार, लेकिन नये-नये स्थान देखने की उत्सुकता अवश्य हमारे अन्तर में है, इसलिए हमने भैरों चट्टी से बस ली और जैसे राजमार्ग पर चल रहे हों प्रकृति के सौंदर्य और विकरालता दोनों को अन्तर में समेटते कुछ क्षणों में ही गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये। सब-कुछ शान्त। न है कोलाहल, न है भाग-दौड़। उत्तरकाशी से स्वामी जी ने हमारा भार संभाल लिया है। सामान कुलियों के भरोसे छोड़ कर हम बढ़ चलते हैं उस पार की बस्ती की ओर। पुल पर से होकर हम भागीरथी को देखते हैं, बस्ती को देखते हैं, भागीरथी कुछ क्षीणकाय है, बस्ती में बस मकान हैं। याद आता है मई 1958 में कैसी आपाधापी मची थी स्थान पाने के लिए...!

सुशीला को सब-कुछ बताते हुए हम ऊपर चढ़कर डाक-बँगले के पास आ जाते हैं। वहीं हम ठहरे हैं। वन विभाग का विश्रामगृह सामने है। दण्डी स्वामी का आश्रम भी विश्रामगृह में परिवर्तित हो गया है। यात्रियों की सुविधा भी और अर्थार्जन भी। अध्यात्म और अर्थ—फिर वही द्वन्द्व।

सुशीला भाव-विभोर है। स्वामी जी अपनी कुटिया खोलते हैं। स्वामी तपोवनम् जी महाराज जहाँ रहते थे उसे मन्दिर बना दिया है उन्होंने। मन यहाँ आकर वैसे ही शान्त हो जाता है। ऐसे पुण्य पुरुषों का सान्निध्य उसे और भी पवित्र और उदात्त बना देता है। स्वामी जी अपने गुरुजी के गुणों का बखान करते थकते नहीं। घूम-घूम कर सब-कुछ दिखाते हैं। गौरी कुंड का रूप वही है, पर जल कम होने के कारण उच्छ्वास और उल्लास कुछ संयत है। पर संयम ने उसके सौंदर्य को और निखार दिया है।

7.15 पर हम कॉफी पीते हैं। अंधकार की रूपहीन परछाइयाँ सब-कुछ को ग्रसती आ रही हैं। स्वामी जी व्यस्त हैं। सुशीला भी उनके साथ व्यस्त हो जाती है। घूमघाम कर राम, अतुल और मैं वहीं आ जाते हैं। कितने प्रसन्न हैं हम। धुआँ घुट रहा है, घुटने दो। अन्तर तो आलोकित है। अस्ताचलगामी सूर्य की किरणों से दीप्त हिम-शिखर जैसे हमारे अन्तर में रेखांकित हो गये हैं।

स्वामी जी की यह कुटिया खूब लम्बी है। चटाई बिछी है। कई व्यक्ति रह सकते हैं आनन्द से। रसोई दूसरे छोर पर है।

आज रात विश्राम करेंगे। सामने के उत्तुंग शिखर, भूधराकार चट्टानें मन को आतंकित करती हैं तो भागीरथी का कल-कल संगीत पुलक से भरता है। स्वामी जी का आतिथ्य हमें गौरवान्वित करता है, क्योंकि यात्री इन दिनों इने-गिने आते हैं। केवल छात्र पर्वतारोही आ रहे हैं। अभी-अभी बंगालियों का एक दल आ पहुँचा है।

रात गहन हो आयी है। उस गहन अन्धकार में तारे कैसे दिपो-दिपो कर रहे हैं। ऊपर वह दीप्ति और नीचे भागीरथी का अनवरत कलकल संगीत।

शीत है, पर आतंकित नहीं करता। एक कम्बल पर एक चादर काफी है। वायु शान्त है, वातावरण शान्त है। हम अपने-अपने पलँगों पर लेटे-लेटे न जाने कहाँ खो जाते हैं। सवेरे जब आँख खुलती है वही मौन संगीत अन्तर में बज उठता है।

आठ[1] बजे हैं। खूब धूप निकली है। सब कुछ चमक उठा है। बादल भी जैसे मुसकरा उठे हैं। सुशीला के साथ मैं चबूतरे पर बैठा हूँ। पत्र लिखते-लिखते दृष्टि रमण करती रहती है। कैसी अपूर्व शान्ति है। नहीं, यह तो सन्नाटा है और सन्नाटा मुझे अच्छा नहीं लगता। चाहता हूँ कहीं मनुष्य दिखायी दे, कई क्षण के परिश्रम के बाद मैं खोज निकालता हूँ कि बहुत दूर गोमुख के पथ पर एक श्रमिक एकाकी काम कर रहा है और वह उधर कुटिया से एक साधु बाहर आये और दूसरे ही क्षण दूसरी कुटिया में ग़ायब हो गये।

कहाँ राजसी नगर के जन-बहुल मार्ग, कहाँ जन-विहीन गंगोत्री!

न हो जन-कोलाहल, भागीरथी का कल-कल नाद तो सन्नाटे को तोड़ता रहता है। स्वामी जी नाश्ते में व्यस्त हैं। सुशीला अपने स्वभाव के अनुरूप उनकी सहायता कर रही है।

सारा दिन घूमते रहते हैं। शिखरों पर एक को छोड़कर हिम नहीं है आजकल। मन्दिर वैसा ही है। आँगन पक्का बन गया है। पुराना अग्निदाह में नष्ट हो गया था। नया कुछ ऊपर बना है। आँगन के ऊपर वही काली कमली वाले की धर्मशाला है। शेष वास-स्थान वैसे ही हैं, पर सब जनहीन हैं आजकल।

हम स्नान करते हैं। सुशीला मेरा हाथ थाम लेती है, "आओ, हम माँ गंगे से प्रार्थना करें—हमारा साथ कभी न छूटे।"[2] मैं उसका अनुगमन करते हुए अपनी जकड़ तेज़ कर देता हूँ। वह मुसकरा देती है। कहती है, "कैसी इठलाती इतराती है गंगा। यदि कोई गिर जाये तो पता भी न लगे अस्थि-मज्जा का।"

---

1. 22 सितम्बर, 1970
2. लेकिन लगभग दस वर्ष बाद वह साथ छूट गया। 8 जनवरी, 1980 को कैंसर के कारण वह स्वर्ग चली गयीं।

अतुल का हाथ सूजता जा रहा है। वह उसे बचा कर स्नान करता है। स्वामी जी बताते रहते हैं—उप-राष्ट्रपति ने कहाँ स्नान किया था, कहाँ उनकी पत्नी के लिए स्नानागार बना था। राजाओं के स्नानागार तो बनते-बिगड़ते रहते है। हमारा स्नानागार तो इन पत्थरों पर है जो भागीरथी के गर्भ मे निर्मित हुए हैं। वे कभी नष्ट नही होते।

बार-बार पिछली यात्रा की बात याद आती है। कैसे भागीरथी मे घुसकर गोते लगाये थे, पर इस ऋतु में पानी बहुत कम हो जाता है। कैसे गोमुख जाने के लिए ऊहापोह मच आया था तब! प्राणों को भय ने ग्रस लिया था, पर इस बार तो सब कुछ निश्चित है। स्वामी जी उसी की तैयारी मे व्यस्त है। पिछली बार मार्ग खोजते गये थे। इस बार इस ओर तीन फुट चौडी एक पगडडी बन गयी है। पिछली बार की तरह दीवान आतंकित नही करता। इसके विपरीत वह हमारा भक्त और सहायक बन गया है। उसका बेटा पढ़ने का शौकीन है। मैं वादा करता हूँ उसे पुस्तक भेजने के लिए।

इस बार भी मार्ग मे एक बंग महिला मिली। वे गोमुख के पास एक कुटिया मे रहती है। उन्होंने हमें तनिक भी आतंकित नही किया। बस मुसकरा कर मेरी पत्नी को नमस्कार किया और चली गयी, मानों कह गयी, 'जाओ माँ! कोई भय नही है।'

उत्तरकाशी नेहरू पर्वतारोहण सस्थान के निर्देशक कर्नल जे० सी० जोशी तथा अन्य अधिकारी वन-विश्रामगृह मे रुके हैं। खूब बातें हुई आज उनसे।

घूमते-घूमते लौट पड़ते है उस पार। स्वामी जी सब कुछ बताते है। उत्तर-वाहिनी केदार गंगा के तट पर हमारा डाक-बँगला है। हम गौरी कुण्ड को देखते है। वेग के कारण कटाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है। स्वामी जी का आश्रम भी सकट मे है। क्या ये सब एक दिन नष्ट हो जायेंगे? स्वामी जी बताते है, गगा के आने से पूर्व यहाँ कई कुण्ड थे—गौरी, सूर्य, ब्रह्मकुण्ड आदि। बिन्दु सरोवर भी था यहाँ पर। अब गौरीकुण्ड शेष है। इसे सहस्रधारा भी कहते है। गौरीकुण्ड के शाश्वत वैभव को आँखों मे सँजोये हम दायी ओर मुड कर ऊपर की शिला पर पहुँच गये है। मन्दिर की आकृति अब भी वैसी ही है। पास मे शंख और त्रिशूल भी है। पिछली बार शायद नही देख पाये थे। सवेरे खूब धूप निकली थी। धीरे-धीरे बादल घिरने लगे और वर्षा शुरू हो गयी। होती रही सारा दिन। क्या गत बार की कहानी फिर दुहरायी जायेगी...?

सध्या पड़ते-न पड़ते कुछ दल उस पार दिखायी देते है। वे यात्री नही हैं। पर्वतारोही है। रात यहाँ विश्राम करके सवेरे आगे बढ जायेंगे।

रात को भी सोते-सोते जाग पड़े हम। पता लगा, एक और दल आ पहुँचा है। अँधेरे में चिल्ला-चिल्ला कर कई व्यक्ति एक साथ कुछ पूछ रहे हैं। गहन सन्नाटे

मे कैसी प्यारी लगती है चिल्लाहट ! कही जीवन तो है।

कोई उन्हे वन-विश्रामगृह मे जाने का सकेत करता है। शोर धीरे-धीरे फिर शान्त हो जाता है। सवेरे जल्दी उठना है। स्वामी जी अभी भी अपनी कुटिया में खटर-पटर कर रहे होंगे। सुशीला मुँह ढके-ढके कहती है, "सो जाओ अब...।"

लेटने पर पलंग आवाज करता है। मैं चौंक उठता हूँ। फिर स्वय ही मुसकरा कर मुँह ढँक लेता हूँ। कलकल संगीत अब अनहद नाद की तरह बज रहा है।

भैरों घाटी से गगोत्री तक पहुँचने मे आधा घंटा[1] भी नहीं लगा। लेकिन जीप वाले बन्धु ने हमसे पूरी जीप का किराया वसूल कर लिया, साठ रुपये। अगर वह यह बात हमको वहीं बता देता तो हम कभी न आते, पर तीर्थयात्रा का दान तो बहुत मार्गों से देना होता है। इधर-उधर बहुत सुन्दर मकान बन गये है इन ग्यारह[2] वर्षों मे। यात्री विश्राम-गृह भी है और निजी कुटीर भी। तब का-सा निर्जन भी नही है। दुर्गापूजा की छुट्टियों के कारण बंगाली भद्रजन दल-के-दल दिखायी दे रहे है। साधु भी है, पुजारी भी। भारवाहक हैं और व्यापारी भी।

सामान उस पार भेजकर हम सबसे पहले मन्दिर गये। स्वामी जी के न आने से यहाँ सभी चिन्तित थे। वायरलेस भी किया। गरीब दास के अनुयायी एक साधु रहते है पड़ोस मे, श्री रामदास पाठी। बड़ा स्नेह है स्वामी जी से। पण्डा लोग भी बहुत प्रसन्न हुए हमे देख कर। सबसे मिलकर उस पार कुटिया पर पहुँचे। मार्ग मे मैंने वह डाक-बँगला देखा जिसमें पिछली बार सुशीला के साथ तीन दिन रहा था। मन सिसक उठा, बहुत कुछ याद आयेगा अभी तो। बहुत कुछ देखा मार्ग में। वन विभाग का विश्राम स्थल, दण्डी स्वामी का यात्री-आवास। योगनिकेतन और तपोवन कुटीर। द्वार पर पुष्पित सूरजमुखी ने हमारा स्वागत किया। मन खिल उठा। सेव के पेड़ फलों से लदे थे। अन्दर किंचित परिवर्तन के साथ वही सन् 1971 की स्थिति है।

निश्चय किया कि डाक-बँगले मे न जाकर यही कुटिया मे रहेंगे। साथी विशेष रूप से हर्ष-विभोर है। स्वामी जी से बातें करते नही अघाते। स्वामी जी कितना काम करते है, परन्तु यहां के साधुओं की कथा सुनते-सुनते मन विरस हो उठता है। अति संयम मन के संयम को तोड़ देता है। उसी का दुष्परिणाम देवात्मा हिमालय की इस तपोभूमि को ग्रसे है। पर रहने दूँ अभी पर-चर्चा को। मैं तो मन-प्राण से कृतज्ञ हूँ उस अज्ञात शक्ति के प्रति जो 'है या नही' के रहस्य से ऊपर उठ कर इस जगत को चलाती है। कृतज्ञ हूँ सुशीला के प्रति जो अदृश्य से भी मेरे कन्धे

1. 1 अक्टूबर, 1981
2. सितम्बर, 1970 से लेकर सितम्बर, 1981 के बीच।

थपथपाती रहती है और स्वामी जी के प्रति जिनका सान्निध्य ही नहीं, सम्बल भी मिला है तीनों बार।

उनका निमंत्रण है कि मैं कुछ माह यहां रह कर साहित्य-सृजन करूं। धूप खिली रहे तो आदर्श स्थान है और आज धूप खिली है। कुटिया के आंगन में यत्न से संवारे नाना रूप पुष्प हैं। फ़र्श भी इस बार पक्का बना लिया है स्वामी जी ने स्वयं। अन्दर मुख्य आकर्षक है स्वामी तपोवनम् जी महाराज की मूर्ति, ठीक उसी स्थान पर जहां वह रहते थे। शेष तो कुछ चित्र हैं, प्रशस्तियां है और समाचार-पत्रों की कतरनें है। पर जो वस्तु सबसे अधिक आकर्षित करती है वह स्वामी जी की कला-दृष्टि, जिसने नाना रूप वृक्षों की जड़ों-टहनियों को सजीव कृतियों मे रूपान्तरित कर दिया है। ऊपर प्रश्न-चिह्न है, क्या होगा जगत का? नीचे शलभ शार्दूल की जड़ ने ड्रेगन का रूप ले लिया है। यही माया का प्रतीक है, त्रिगुणात्मक रूप माया का। बीच में एक प्रस्तर प्रतीक है शिव-शक्ति का। शिव यज्ञोपवीत-धारी है। दायीं ओर एक पर्वतारोही आत्म-समर्पण भाव से चढ़ रहा है उस शिखर पर, जहां से कोई लौट कर नहीं आया। नीचे ईसा क्रूस पर टंगे है तो बायीं ओर अजगर मनुष्य को ग्रस रहा है। वहीं नीचे त्रिमूर्ति है, ऊपर बगुलाभगत है। पूरी कुटिया का रूप कैलाश मन्दिर के जैसा है, ग्रीक कला का प्रतीक। भीतर गणेश है, शेषनाग पृथ्वी को धारण किये हुए है। एक प्रस्तर खण्ड पर नर कंकाल की आकृति है। देवदार के एक खण्ड पर कीड़े ने अद्भुत कला क्षमता का परिचय दिया है। आंगन में पूर्व-परिचित एक जड़, दो पेड़ों वाला देवदार है। उसके चारों ओर काष्ठ पीठिकाएँ है। पेड पर टंगी शाखाएँ नाना प्रतीकों को रूप देती हैं—जटाजूटधारी शिव की जटा से वीरभद्र का जन्म, 'जागते रहो' पुकारता प्रहरी, नवजात शिशु को चारा देते हुए पक्षी, दो होने की इच्छा करता हुआ मनुष्य, ऊपर राजा की चेतावनी, राजा हाथी पर सवार है। हाथी के एक-एक अंग का परिचय देता है वृक्ष। चारदीवारी जतन से पत्थर जोड़-जोड़ कर बनायी गयी है, वैसा ही बना है द्वार। स्वामी जी की अपनी कुटिया सादी और सुन्दर है। सब सुविधाएँ है आधुनिक घर की। स्नानागार है। बाहर बैठने का स्थान है। मुख्य कक्ष बहुत प्रशस्त है। वहीं गद्दे लगाकर हम सोने का प्रबन्ध करते है। अन्त मे है पाक-शाला। पानी का नल है उसमें।

दो बज जाते हैं नैसर्गिक कला के इस सर्वेक्षण मे। फिर होता है स्नान-भोजन। स्वामी जी ने ताहरी तैयार की है। साथ मे राजमा, सेव की जैली और अचार है। अमृत भोजन है यह, इस हिमशिखरों के देश मे। गंगोत्री से बद्रीनाथ तक की विकट यात्रा के बाद भी स्वामी जी थके नहीं है, पर हम है कि तपोवन से भी डर लगता है। कुछ देर अपने पूर्व-परिचित शिखरों को निरखता हूँ। धूप-स्नात निपट नील-गगन में श्वेत शावक अलसभाव से लेटे हुए है, मानो मेरी तरह देख रहे

हैं सामने की नैलंग श्रेणी को और मेरे पीछे के भृगुपथ, हनुमान टेकरी और जोगन शिखरों को...।

देखते-देखते धूप ने जैसे अपनी माया समेट ली। हम भीतर जाकर कम्बलों की शरण लेते हैं। भ्रमण में मैं निरन्तर वैदिक ऋषियों और भगीरथ से टैली-पैथी द्वारा बातें करता रहता हूँ। मन करता है यहीं आकर बस रहूँ, पर मैं नारी को शत्रु नहीं मान पाता। प्रवृत्ति-निवृत्ति के बीच में मार्ग नहीं कोई—यही बातें करते-करते आठ बज जाते हैं। हम अब स्वामी तपोवनम् महाराज की कुटिया में आ गये हैं। इसी बीच में दो जापानी युवक आ जाते हैं। अपने अभियान में सफल नहीं हो सके। एक विद्यार्थी है, दूसरा शोध-छात्र है ऊँचे शिखरों को लेकर। एक माह दोनों अकेले घूमते रहे अगम्य प्रदेशों में। स्वामी जी से बड़े प्रभावित हैं। खूब चित्र खींचते हैं। रात्रि में मुझे दूध मिलता है, माँ भी शायद इतनी चिन्ता नहीं करती। साथी जो बातें करते नहीं अघा रहे थे कुछ अस्वस्थ अनुभव करते हैं।

अचानक बारह बजे आँख खुलती है। साथी बहुत बेचैन हैं। वायु हृदय पर दबाव डाल रही है। तेज कब्ज है। कोई दवा असर नहीं कर रही। बोले, "जल्दी लौटना पड़ेगा।" कहाँ वह उत्साह जो मुझे बल देता था, कहाँ यह निराशा! चार घंटे इसी उहापोह में निकल जाते हैं। मैं न जाने कब सो जाता हूँ। पाँच बजे जाकर साथी का पेट जुम्बिश करता है। मेरा उत्साह लौटने लगता है। रात तीन बजे बाहर आकर मैंने निरभ्र आकाश में तारों का रूप-वैभव देखा था। विराट मौन में कृष्णवर्णी भूधराकार पर्वतमाला, यहाँ-वहाँ मेघ शावक और बीच में दिपो-दिपो करता रत्न-जड़ित आकाश, वैदिक ऋषियों के प्रति मेरी ईर्ष्या का पार नहीं। सर्वोत्तम सौन्दर्य ही तो ईश्वर है।

आज[1] मैं स्वामीजी के साथ बैठ कर 'ज्योतिपुंज हिमालय' की पाण्डुलिपि ठीक करता हूँ। पत्र लिखता हूँ। स्वामी जी घर व्यवस्थित करते रहते हैं और व्यस्त भाव से बताते रहते हैं। भोजन आज हमें श्री रामदास पाठी की कुटिया पर करना है। कलियुग यही तो है। एक साधु हमारे जूठे बर्तन माँजता है, दूसरा स्वयं हाथ से भोजन बनाकर खिलाता है—साबुत मूँग, सब्जी, सलाद...।

विशिष्ट जन हैं हम। यह विशिष्टता मुझे सदा डरा देती है। साथी और भी विशिष्ट हैं, क्योंकि वे अध्यात्म पर बड़े आग्रहपूर्वक बातें करते रहते हैं। मुझे तो बस प्रकृति का रूप-जाल मोह लेता है या मैं अपने अन्तर में ही उमड़ता-घुमड़ता रहता हूँ। अपनी अनुभूति को स्वर देते नहीं बनता मुझसे। दूध आज भी मिलता है और तभी मैं कुछ व्यक्तिगत बातें कर लेता हूँ।

---

1 2 अक्तूबर, 1981

लेकर पटागना तक के भूखण्ड में भ्रमण करते हैं। ये ही जाने-पहचाने दृश्य—कुंड, चट्टानें, वृक्ष। साथी के लिए सब-कुछ नया-नया। मैं देखता हूँ, एक पवित्र चट्टान पर एक साधु ने *अधिकार कर लिया है। राज्य के विरुद्ध इंजेक्शन ले आया है।* न्यायालय में खड़े हैं दोनों और प्रभु सदा की तरह देख रहे हैं। देखते ही रहेंगे...!

मैं अपनी दृष्टि नाना रूप वृक्षों से देवदार, कैल, पलाश, राइमुरण्ड जूनीफर से आच्छादित पटांगना के तीन स्तरीय भूखण्ड पर टिका देता हूँ और देखता हूँ गहरे गह्वर में बहती भागीरथी को। कहीं-कहीं चट्टानें ऐसे घिर गयी हैं दोनों ओर से कि आसानी से पुल बनाया जा सकता है। एक क्षण को एक चित्र उभरता है मन के पटल पर। पुल बन गया है और यह तीन स्तरीय भूखण्ड नाना रूप कुटीरों से ढँकता जा रहा है। विश्रामगृह, होटल, सभी कुछ है। शीतकालीन खेल भी होने लगे हैं। उद्योगपति के परिवार जैसी सुन्दरियों का मधुर मोहक हास्य भी गुंजित होता रहता है। पर तभी क्रुद्ध हो उठता है एवलांशी (हिमघात) और सभ्यता पर आक्रमण कर देता है। उसका परिणाम अभी देख आया हूँ। राजकीय आवास-गृह का एक खंड पूरा होने से पूर्व ही खंडित हो गया है उसके प्रकोप से। प्रकृति-पुरुष का यह शाश्वत युद्ध यहाँ अनेक स्तरों पर होता रहता है। सहसा मुझे मास्को में कहे एक रूसी लेखिका के वे शब्द याद आ जाते हैं, "कब तक लड़ते रहेंगे हम प्रकृति से? हमें उससे समझौता करना ही होगा।" पापामोल खाते-खाते वैदिक ऋषियों के कन्दमूल फल की याद आ जाती है, पर सोमरस कहाँ है...!

सहसा यहाँ की घास और वृक्षों को देखकर कवि जगूड़ी की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं:

घास बड़ी होती है
तो आपस में दोस्त हो जाती है।
पेड़ बड़े होते हैं
तो अकेले हो जाते हैं
अपने आप में उलझे हुए।[1]

लेकिन मैं कहाँ खो गया, स्वामी जी तो चित्र पर चित्र खींच रहे हैं। कैसे-कैसे पोज़ बनवाये उन्होंने। कहाँ-कहाँ बैठाया, नुकीली चट्टान पर, जो ठीक गंगा के तट पर पेड़ के सहारे झुक आयी थी। बैठते समय मैं काँप-काँप आया। बहुत गहरे में बह रही *थी भागीरथी, ज़रा भी असावधान हुआ कि...!*

पहली बार आज लगा, स्वामी जी सामान्य नहीं हैं...!

लौटकर किंचित विश्राम के बाद स्वामी रामदास पाठी के साथ कुछ विशिष्ट

1. बची हुई पृथ्वी, पृ० 86

सन्तों से मिलने गये। यह परिदृश्य सन् 1958 से कुछ भिन्न इसी अर्थ में है कि भौतिक मूल्य आध्यात्मिक मूल्यों पर हावी हो गये हैं। मैं व्यक्तिगत चर्चा नहीं करना चाहूँगा किसी की। ज्ञान-चर्चा में भी समग्ररूप से कोई नहीं सोचता। बस धर्म-भीरु यात्रियों को आतंकित करना ही उनका ध्येय हो जैसे। नगर में मध्य-वर्गीय साधारण जन के लिए जो दुर्लभ है वह काजू हमें खूब खाने को मिला। एक वीतराग गुहावासी नग्न साधु के पास काफी सम्पदा थी। एक दिन उनके सेवक और शिष्य ने भांग खिलाकर उन्हें मारा और बांध दिया और माया को लेकर चम्पत हो गये। 'माया महाठगनी मैं जानी'—साधु शायद इस बात को भूल गये थे। शिष्य ने याद दिला दिया। सन् 1958 में इनसे बहुत बातें हुई थीं। प्रभावित भी हुए थे। इस बार भी दर्शन किये। सभी साधु नारी-द्रोही हों, ऐसा भी नहीं है। एक है जो तीन पत्नियों और बारह बच्चों के परिवार के रहते भी वीतराग है। जटाजूटधारी, बदन पर भभूत मली है, लिख कर बातें करते हैं—"मैं किसी शराबी और मांसाहारी को यहाँ नहीं टिकने देता।" पूछना चाहता हूँ कि वह मांस का दरिया...?

नहीं पूछ पाता। साधु है तो साध्वी भी है। यात्रियों की सुख-सुविधा के लिए उनके निजी आवास-गृह भी हैं। तनाव-मुक्त होने के सभी साधन हैं। खूब आदर पाया हमने उन सबसे। विशिष्ट जन जो हैं। साथी को हंस स्वामी जी से कुछ काम है। सन्देशा देना है किसी का। 'अपने को जानना क्या है'—इसी पर काफ़ी विवाद मच आया हम लोगों में। यही तो जानना है। सन् 1958 में दण्डी स्वामी से यक्ष-किन्नरों को लेकर बहुत कुछ सुना था। इस बार वे नहीं रहे। उनका उत्तरा-धिकारी हमारा बड़े उत्साह और बड़ी उमंग से स्वागत करता है। बहुत कुछ सुना है इनके बारे में भी। उनका आश्रम 'यात्री विश्राम-स्थल' के रूप में पहले ही बदल चुका था। अब सुविधाएँ और बढ़ी हैं। लौटते हुए किसी युवती साध्वी का सुमधुर कण्ठ स्वर सुनायी देता है। मंत्र-पाठ कर रही है वह मन्दिर में।

सुना है...जान दें सुनने की बातें। क्यों विश्वास करें हम उन पर? सवेरे गोमुख जाने का निश्चय है। कम-से-कम सामान ले जाना है। स्वामी जी व्यस्त हो उठते हैं। वैसे-ही-वैसे उनकी असहजता भी बढ़ती है। गढ़वाल विश्राम-गृह के युवक निरीक्षक श्री अनसूयाप्रसाद जोशी किसी प्रकार ढूँढ़-ढाँढकर एक कुली लाते हैं। जाने की स्वीकृति देने से पूर्व उसके नखरों का अन्त नहीं।

हम लोग प्रसन्न हैं कि दूसरी मंजिल की ओर बढ़ रहे हैं। बड़ी उत्सुकता से तैयारी में खो जाते हैं। सन् 1958 वाला आतंक हमें छू भी नहीं पाता, लेकिन साथ ही सन् 1971 वाली सहज उत्फुल्लता का भी अभाव है। एक अनजाना भय कहीं ठाँव खोज रहा है अन्तर में।

खण्ड तीन

गोमुख

नैलंग श्रेणी की छाया में

पचास वर्ष पूर्व सन् 1932 मे पहली बार स्वामी तपोवनम् ने इस प्रदेश की यात्रा करने के बाद 'हिमगिरि विहार'[1] मे लिखा है—

> "इस मार्ग की कठिनता तथा उसके कारण यात्रा की कठिनाई शब्दों में प्रकट करना असंभव है।"

लेकिन साथ ही यह भी कहा है उन्होंने—

> "यहाँ पहुँच कर मनुष्य का मन निश्चित एवं समाहित हो जाता है। प्रकृति की अलौकिक हिम सुन्दरता के दर्शन से उत्पन्न एक विचित्र आनन्द रस में निमग्न होकर मन सकल्प-विकल्पों से हीन, एक समाहित दशा की ओर उठ जाता है। यह आनन्द पंडित-पामर, भक्त-अभक्त और ज्ञानी-अज्ञानी सबको अनुभूत होता है। सभी प्रबुद्ध लोग जानते हैं कि यहाँ का एक-एक हिमकण, एक-एक पाषाण खण्ड, एक-एक कुसुमदल तथा एक-एक तिनका मानो उच्च स्वर मे यह उपदेश दे रहा है कि शांति ही सत्य है, सत्य ही सौंदर्य है और सौंदर्य ही आनन्द है तथा आनन्द ही ईश्वर का तत्व है।...यह स्थान नितांत एकांतता की दृष्टि से ही नही, आध्यात्मिक शुद्ध वातावरण की दृष्टि से भी इस संसार में अनुपम है।"

क्या आज भी यही कहा जा सकता है गोमुख के संबंध में? क्या आज भी वही पवित्र वातावरण है वहाँ? वही अनुभूति होती है पंडित-पामर, भक्त-अभक्त और ज्ञानी-अज्ञानी को? अपवाद हो सकते है, होते हैं, परन्तु शांति, सत्य, सौंदर्य, आनन्द—इन सब तत्वों को सभ्यता ने धीरे-धीरे कैसे ग्रस लिया, निरंतर यही अनुभूति होती रही है मुझे तो सन् 1958 से 1981 तक की अपनी तीनों यात्राओं में। आज नही, तभी दिये थे शब्द मैंने उस अनुभूति को।

---

1. पृ० 255-72

सवेरे जब[1] पाँच बजे आँखें खुली तो सबसे पहले दृष्टि आकाश की ओर उठी। वह उसी तरह मेघाच्छन्न था। मन काँप उठा। महिलाएँ पहले ही शंकाकुल थीं, अब पुरुष भी सोचने लगे, वर्षा हो गयी तो...?

स्थानीय व्यक्तियों ने कहा, "सकट आने की पूरी सभावना है, फिर भी कुछ साहसी व्यक्ति जाते हैं, घायल भी हो जाते हैं।"

पुलिस का दीवान आज और भी दृढ़ता से हमें जाने के लिए मना करने लगा। हम सबकी बातें सुनते, आकाश की ओर देखते और मन-ही-मन प्रार्थना करते, 'हे सूर्यनारायण, दर्शन दो। क्यों हमारे मार्ग की बाधा बन रहे हो? इधर कब-कब आना होता है!' पर सूर्यनारायण तो अडिग थे। आठ बज जाने पर भी आकाश नही पिघला। क्या होगा अब? क्या सचमुच नही जा सकेंगे? देखता हूँ कि दूसरे दल के सदस्य भी ऋतु के कारण कुछ शकित हैं। लेकिन उस दल में एक बधु हैं श्रीदत्त। क्षीणकाय, अत्यन्त दुर्बल। क़दम रखते पूर्व मे तो पड़ता पश्चिम मे। लेकिन मानसरोवर हो आये है। वह बोले, "मैं जाऊँगा। कुछ भी क्यो न हो, अवश्य जाऊँगा।"

और वह चल देते है। धीरे-धीरे उनके सभी साथी उनके पीछे रवाना हो जाते हैं। हमारे लिए यह एक और चुनौती है। हमने उसे स्वीकार किया और निश्चय किया कि जायेंगे, पर पुलिस का दीवान अभी भी आश्वस्त नही था। बोला, "आपने तय कर लिया है तो जाइये, लेकिन काम जोखिम का है। हम लोगों को मुसीबत होती है। और कोई मर जाये तो मुझे फिकर नही है, लेकिन आप बड़े आदमी है। पचायतनामा भरना पड़ेगा। अभी पिछले साल धरासू के मार्ग पर दो मारवाडी ग़ायब हो गये थे। अब तक उनके बारे मे जाँच की जा रही है। कुछ पता नही लगा।"

फिर वह हमारे मार्ग-दर्शक दिलीप की ओर मुड़ा। डाँटने लगा, "तुम लोग पैसो के लोभ में यात्रियों को संकट में फँसा देते हो। अब मैं एक रजिस्टर बनाऊँगा और जाने से पहले तुमसे दस्तखत कराऊँगा। तुम्हें लाइसेंस लेना होगा। मै तुम्हे ठीक कर दूँगा।"

दिलीप कुछ नही बोलता। मानो ये सब बातें वह सुनता ही आया है, लेकिन हम पर इसकी जो प्रतिक्रिया हुई, उसने हमारे निश्चय को और भी दृढ़ कर दिया। यह पुलिस वाला नवाबज़ादा आखिर अपने को समझता क्या है!

लेकिन अभी बाधाओ का अन्त नही आया था। ठीक समय पर हमारे बोझी लालच के शिकार हो गये। अधिक पैसे माँगने लगे। उन्हे छोड़ देना पड़ा। स्वामी जी तुरन्त स्थानीय बोझी बुला लाये।

---

1. 6 जून, 1958

और हम चल पड़े। 6 जून, शुक्रवार का दिन है। 9 बजकर 10 मिनट हो चुके हैं। विदा की वह बेला, एक साथ भय और उत्साह, आशंकाओं और मंगल-कामना से भर उठी।

जिस समय हम लाठियां संभाल कर भागीरथी के किनारे-किनारे आगे बढ़े तो मेघ गर्जन कर रहे थे। ऐसा जान पड़ता था मानो प्रकृति हमारी परीक्षा लेने के लिए कटिबद्ध है। कुछ ही क्षणों में हलकी बूंदों ने हमारा स्वागत किया। लेकिन अब तो चलना है, चलना है, रुकने का है नहीं काम। लगभग आधा मील चलकर हमने शाश्वत हिम-पुल पर से भागीरथी को पार किया। इस ओर आकर मार्ग अत्यंत भयावह हो उठता है। ऊंचे गोलाकार कगार पर एक पैर टिकाने जितनी एक अस्थायी पगडंडी बन गयी थी, वह भी फिसलती थी। तन-मन कांप उठे। पैर रखते ही ऊपर से पत्थर खिसकने लगते। दोनों हाथों से धरती को पकड़-पकड़ कर किसी तरह हमने उसे पार किया। दो साथियों को तो स्वामी जी मानो उठा-कर ले गये। अचरज यह कि वह इस भयानक मार्ग पर ऐसे चलते थे जैसे कोई बालक मां की गोद में मचलता हो। बोले, "आप लोग आसमान मे बादल देखकर डर रहे थे, लेकिन अब वे ही आपके लिए वरदान बन गये हैं।"

उस समय हम एक गिरे हुए पहाड़ की ढाल पर चल रहे थे। किसी भी क्षण गगा के गर्भ मे पहुंच सकते थे। लेकिन जहां एक ओर यह भयानक मार्ग हमारे साहस को चुनौती दे रहा था, दूसरी ओर प्रकृति का मुक्त वैभव हमे रोमांचित करने लगा था। सामने देवघाट के शिखर थे। भीमकाय शिलाखडों के बीच से होकर भागीरथी नीचे को ओर वह रही थी। दाहिने और बायें के हिमशिखर मानो हमारे पथ को आलोकित कर रहे थे। सहसा हम लक्ष्मी-वन जा निकले। इमे गंगा-बागीचा भी कहते है। इसकी शोभा देखते ही बनती है। नाना प्रकार के जामुन, पापा-मोल, आदि सुस्वादु फलों के वृक्षों ने, सुगधित औषधियों के द्रुम-दलो ने, नाना रूपधारिणी पुष्पलताओं ने, उसे बनकन्या की तरह सँवारा था। स्वामी जी उसकी शोभा का वर्णन करते न थकते थे। बोले, "रूप का निखार देखना है तो वर्षा के तुरन्त बाद आइये। अंगों पर पुष्पों की छटा, मुख पर फलों का उन्माद, मनुष्य कामनातीत हो जाता है।"

कहां तो मृत्यु-रूपी मार्ग, कहां ऋद्धि-सिद्धि जैसा यह वैभव ! मन कांपता भी था, विभोर भी होता था। उग्र तपस्या के बाद ही तो इन्द्र पद मिलता है। इसी मार्ग पर बहुत दूर तक गगा-तुलसी (छांवर) और अजवायन की महक से महकते रहे। सहसा सामने एक गुफा दिखाई दी। स्वामी जी बोले, "यह अघमर्दनी गुफा है। इसका एक नाम गर्भयोनि भी है। पहले इसको पार करना बहुत कठिन था। भागीरथी का जल भर जाता था। लेकिन अब चरवाहों ने पेड़ का एक मोटा तना बीच में डाल दिया है।"

दो भयंकर संकीर्ण चट्टानों के बीच का यह मार्ग बड़ा कमाल का था। किसी तरह ऊपर चढ़कर हमने इसे पार किया। फिर कभी चट्टानों को लाँघते, कभी गुफाओं के ऊपर होते, कभी वृक्षों के नीचे से निकलते और कभी जल में से होकर आगे बढ़ते चले गये। दाहिनी ओर देवघाट के हिम-शिखर पास आते जा रहे थे। बायीं ओर बड़े-बड़े शिलाखण्डों को रससिक्त करती भागीरथी तीव्र वेग से समतल भूमि की खोज में भागी जा रही थी। तभी स्वामी जी बोले, "देखो, देवघाट से आने वाली यह मनोहारी देवगंगा भागीरथी को आत्म-समर्पण कर रही है। इस पवित्र संगम को देखो।"

वहाँ शाश्वत हिम का साम्राज्य था। देवघाट का वास्तविक नाम देवगाड़ या देवगाड है। गढ़वाली भाषा में नदी को गाड़ भी कहते हैं। लगभग बीस वर्ष पूर्व देवघाट शिखर का कुछ भाग टूट गया था। उसका मलबा (बराड) देवगंगा के मार्ग से बहकर भागीरथी में आ गया था। तब जल के अवरोध और फिर तीव्र-प्रवाह ने धराली तक प्रलय मचा दी थी। गंगोत्री के घाट-हाट आदि सब बह गये थे। किस क्षण यह मायावती सुन्दरी प्रकृति रुद्र-रूप धारण कर लेगी, यह कोई नहीं जानता। नदी जब विकराल हो जाती है तो किनारों को पसंद नहीं करती, हर ताकतवर की तरह वह भी अपने आधार को काटने लगती है।[1]

इस मार्ग पर हमने एक-एक करके ऐसे आठ बर्फ़ के पुल पार किये। 'नदी' शब्द का उच्चारण करते ही उसका जो रूप हमारे मस्तिष्क में उभरता है वैसी जल से भरी नदियाँ यहाँ नहीं दिखायी देतीं। वर्षा ऋतु में उफन कर कभी-कभी वे रुद्र-रूप धारण कर लेती हैं, लेकिन साधारणतया उनका रूप एक नाले जैसा होता है। शिखर पर से आने के कारण प्रवाह अवश्य तीव्र होता है, और समूचा घाट पत्थरों से भरा रहता है। इतना ही नहीं, रात के समय उन पर बर्फ़ जम जाता है और कहीं-कहीं तो वह बर्फ़ नितांत कच्चा होता है। एक ऐसे ही स्थान पर घोरपड़े का पैर घुटने तक बर्फ़ में धँस गया, परन्तु दूसरा पैर दृढ़ता से ऊपर जमा रहा। दुर्घटना होते-होते बच गयी। हम लोग सावधानी से एक-एक पत्थर की जाँच करके फिर आगे बढ़ते थे। कभी-कभी अगला पैर उठाने पर पिछले पैर के नीचे वाला पत्थर स्थान छोड़ देता था। तब रस्सी पर दौड़ने वाले नट की तरह शरीर को साध लेना पड़ता था। शीत इतना था कि बार-बार मार्ग में आग जला कर शरीर को चेतन करना पड़ता था।

इस प्राकृतिक प्रदेश में जड़ी-बूटियों की बहुलता है। भोज-वृक्षों का तो जैसे यहाँ साम्राज्य है। वैसे चीड़ भी है, बन-पीपल भी दिखाई देता है, पर भोज-वृक्षों का वैभव निराला है। श्वेत-पीत आभा वाले इस वृक्ष के उपयोग भी अनेक हैं।

1. घबराये हुए शब्द : लीलाधर जगूड़ी, पृ० 66

इसकी छाल कागज के समान है। प्राचीन वांग्मय इन्ही भोज-पत्रों पर सुरक्षित रहा है। ये ही भोज-पत्र उनका तन भी ढँकते थे। आज ये इस प्रदेश में भोजन के लिए पत्तलों का काम देते है। शीघ्र जलने वाली इसकी लकड़ी शरीर को गर्मी पहुँचाती है। इसके लबे-लंबे तने धारा के दो किनारों को मिलाने वाले अस्थायी सेतु बन जाते हैं। इसकी छाल को काठ की छत के नीचे लगाने पर पानी नही झरता।

थोड़ा और आगे बढ़े तो स्वामी जी बोले, "यह लीजिये, अब हम बांगलावास आ गये।"

बांगला भी एक वृक्ष है। उस स्थान पर इन वृक्षों का बाहुल्य है। इसी कारण सुविधा के लिए उस प्रदेश का नाम पड़ गया है बांगलावास। ईंधन की कमी नही है। इसी कारण भेड़-बकरियों को चराने वाले गादी यहीं डेरा डाले रहते हैं। आस-पास चरागाह भी खूब है। आज हमारा लक्ष्य चीड़वासा है। कभी उस वन में चीड के वृक्षो का बाहुल्य रहा होगा। आज तो बाहुल्य भोज-वृक्षों का है। और दूर उनके पीछे खड़े हैं देवघाट, भृगुपथ और शिवलिंग के शाश्वत हिमशिखर, मानो श्वेत केशधारी अन्तर्मुखी मुनिगण ब्रह्म की आराधना में लीन हों। इसके विपरीत उस पार भारत की उत्तरी सीमा के चिर-प्रहरी हिमाचल की वज्र वृक्षवाली उत्तुंग पर नितांत नग्न नैलग-श्रेणी को देख कर सहसा महाकवि इकबाल की ये पंक्तियाँ याद हो आयी, जैसे वहीं बैठ कर कवि ने उनकी रचना की हो :

परबत वो सबसे ऊँचा हमसाया आसमां का।
वो संतरी हमारा वो पासवां हमारा॥

क्षितिज के उस पार से जैसे एक और कवि गा उठा हो :

यह देखो योगीश्वर गिरिवर अटल हिमाचल तुंग शिखर।
यह देखो उसकी गोदी में गंग खेलती बिखर बिखर॥

तभी सहसा मुझे 'दिनकर' की ये पंक्तियाँ याद आ गयी :

मेरे नगपति मेरे विशाल
साकार दिव्य गौरव विराट
मेरी जननी के दिव्य भाल।

स्वामी जी बोले, "उस ओर उस पर्वत को देखो। सुना है कि उसके नीचे रत्नों की खान है।"

मैंने पूछा, "कोई उन तक पहुँच सका है ?"

"नही, अभी तो ऐसा नही सुना। कहते हैं कि एक बार एक स्विस दल यहाँ

आया था। घूमते-घूमते उसके जूते की कील सोने की हो गयी थी। बहुत खोजा, बहुत खोजा, पर वह पारस पत्थर न मिला।"

मैं बोला, "स्वामी जी, क्या सचमुच पारस पत्थर होता है ?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "सुनता हूँ, होता है। लेकिन अभी तक देखा नही। मुझे तो ऐसा लगता है, ये सब किंवदन्तियाँ हैं जो किसी गहरे सत्य की ओर इंगित करती है। सोना यहाँ प्रतीक है, धातु नही।"

मन मे सहसा उठा—काश, यह प्रतीक न हो, सत्य हो तो फिर सोना ही सोना हमारे पास हो जाये। लेकिन तभी उस लोभी राजा की कहानी याद हो आयी, जिसने देवदूत से वरदान माँगा था कि जिस वस्तु को वह स्पर्श करे वह सोने की हो जाये। वरदान उसे मिला। सोना भी मिला, लेकिन उसने उसका जो मूल्य चुकाया, वही उसके लिए अभिशाप बन गया। उसका भोजन, उसके वस्त्र, पीने का पानी, यहाँ तक कि उसकी अपनी पुत्री—उसके स्पर्श से सब सोने के हो गये। तब त्रस्त होकर वह पुकार उठा था, 'हे देवदूत, अपना वरदान वापस ले लो।'

मन-ही-मन मैंने कहा, 'हे देवदूत, ऐसा वरदान कभी किसी को मत देना।'

तभी आकाश के समूचे विस्तार परआधिपत्य जमाये काले कजरारे मेघ जैसे धरती से मिलने को आतुर हो उठे। नन्ही-नन्ही बूँदें पड़ने लगी। लेकिन अब इतना आगे बढ़ आये हैं कि लौटने की बात नही सोच सकते थे। नयन चीड़वासा की धर्मशाला को देखने को व्यग्र हो रहे हैं। स्वामी जी बार-बार कहते—"वही तो है उस मोड़ के उस पार। वह जो चीड़ के वृक्षों की पंक्ति दिखायी दे रही है।"

लेकिन वह पंक्ति तो मृग-मरीचिका की तरह पास आती ही नही। पत्थरों पर चलते-चलते पैर दुखने लगे, टाँगें भर आयी। भागीरथी के तट पर नाना रूप पत्थरो के अतिरिक्त और कुछ भी तो नही है। शिखर पर कही-कही दस-पाँच कदम का समतल मिल जाता तो प्राण जैसे लौट आते। लेकिन कई स्थानों पर इतना तेज ढाल है कि पैर रखते ही शरीर में सिहरन कौंध-कौंध जाती। जरा झिझके कि नीचे भागीरथी की वेगवती धारा में प्राणों का विसर्जन हो जाता।

बंगाली दल हमसे कुछ पहले चल दिया था। लेकिन इस भयानक मार्ग पर निरन्तर दूरी बनाये रखना असभव है। दूरबीन के द्वारा हमने उनको ढूँढ़ लिया और फिर शीघ्र उनसे जा मिले। तब साथ-साथ, कभी प्राणो को कँपाने वाले तलवार की धार जैसे रपटते कगार पर चलते, कभी लुढकते-फिसलते पत्थरो पर नृत्याभिनय करते, कभी गंगा के तटवर्ती जल मे उतरते चीड़वासा धर्मशाला के पास पहुँच गये। इस नितांत निर्जन भयकर प्रदेश मे समुद्र-तल से 11,830 फीट के ऊपर, उत्तुंग शिखरों से घिरी, भोजपत्रों के सान्निध्य मे भागीरथी के बायें तट पर वह धूलभरी उपेक्षित, अरूप, काली दीवारों वाली धर्मशाला नंदन-भवन से बढ़कर लग रही थी—मृत्यु के आँगन मे जीवन के वरदहस्त की छाया जैसी।

बायी ओर है भागीरथी की वेगवती जलधारा, जिसकी प्रचंड ध्वनि वायुमंडल मे गुंजित हो रही है, और दायी ओर के पर्वतों पर थे चीड़ के हरे-भरे वृक्ष, जो उस वनश्री की शोभा हैं। जगह-जगह बिखरे पत्तो, अधजली लकड़ियाँ, राख के ढेर। उन पर बिस्तर डाल कर आग की व्यवस्था मे लगे। वायु का वेग तीव्र गति से बढ रहा है। लेकिन तभी जैसे प्रकृति की परीक्षा पूरी हो गयी। आकाश निर्मल हो आया। सूर्य ने विहँस कर आवरण उतार दिया। किरणें हँस पड़ी और वह स्वर्णिम हँसी हिम-शिखरों पर बिखर गयी। वे उस परस से पुलककर ऐसे मुसकराये जैसे प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे को पाकर मुसकरा उठते हैं। सभी साथी किलकारी मारते हुए बाहर आ गये। एक बोले, "कैसी माया है, जब तक चले मेघ छाये रहे!"

दूसरे ने कहा, "कितना अच्छा हुआ, उस भयंकर मार्ग पर पहाड़ी धूप खिली रहती तो क्या आज यहाँ पहुँच पाते?"

सच! क्या प्रकृति जान-बूझकर हम पर कृपालु रही? क्या कल हम यहाँ से चार मील दूर अपने लक्ष्य गोमुख सानंद पहुँच सकेंगे?

लेकिन इतना सोचने का अवसर कहाँ है? साथियों को भूख लग आयी है। तुरन्त चूरमा बँटने लगा। चाय बन रही थी। खाते-पीते, कभी भोज-पत्र उतारते कभी घूमने लगते, कभी बैठ कर डायरी लिखते, पत्र लिखते, फिर आग सेंकते। फिर सहसा बाहर चबूतरे पर आकर हँस-हँस कर, उमग-उमग कर गर्व से भर-भर कर आस-पास की प्रकृति को देखने लगते। सोचने लगते, भोजवृक्ष की महा-सुकुमार त्वचा भीषण प्रकृति की रुद्रता कैसे सह लेती है, जैसे झरना पत्थर की रगड़ को।

भागीरथी के उस पार के शिखर नक्षत्रो से मंत्रणा करने के लिए मानो एक दूसरे से होड़ लेते हुए ऊपर, और ऊपर उठते चले जा रहे है। उसी उत्तुग नैलंग श्रेणी में सहसा एक गुफा-सी दिखायी दी। उसके द्वार पर हिम का शिवलिंग बना हुआ था। आस-पास हिम तो क्या, झरना तक नही, दूर्वा तक नही, फिर भी शिखर से बूँद-बूँद पानी टपकता रहता है, जमता रहता है। जम कर हिम की एक आकृति-सी बन गयी है, जो वर्ष-भर बनी रहती है। वायु के थपेडे उसके ऊपरी भाग को छीलते रहते है। ऊपर से बर्फ़ पिघलकर नीचे आ जाती है। नीचे का भाग कुछ मोटा हो जाता है। ऋतु के अनुसार उसमे परिवर्तन होता है। शीतकाल में इतनी बर्फ़ जमती है कि वह स्तभ-सा दिखाई देता। उसी को यहाँ के निवासी कहते है शिवलिंग। अमरनाथ की गुफा में इसी प्रकार का शिवलिंग बनता रहता है। दूर से देखने पर ऐसा लगा था, जैसे कोई मनुष्य घुटने मोड़ कर आराम कर रहा हो।

धीरे-धीरे बढते हुए अंधकार की काली छाया हिमशिखरों पर उतरने ..

जैसे सब कुछ कुहरे में लिपटता जा रहा हो। वायु और भी तीव्र हो उठी, गोमुख के उस ओर 22,495 फीट ऊँचा हिमशिखर भागीरथ शिखर के नाम से प्रसिद्ध है। पुरातन पुरुष की भाँति वह निरन्तर गम्भीर भाव से नीचे की सृष्टि को देखता रहता है। भोजवृक्षों के वन के ऊपर 22,218 फीट ऊँचा भृगुपथ है। हिमशिखरों की आकृति बहुधा शिवलिंग की तरह हो जाती है। इसीलिए हिमालय में कैलाश और शिवलिंग का प्राचुर्य है। इन शिखरों के आधार पर ही आर्य-मनीषियों ने मन्दिरों के शिखरों की कल्पना की थी। अध्यात्म, दर्शन और अर्चना—सब यहीं तो पनपे हैं। काका कालेलकर के शब्दों में—"हिमालय अगर किसी चीज की दीक्षा देता है तो वह है भूमा की और मनुष्य गद्‌गद होकर बोल उठता है—'यो वै भूमा तद् अमृतम् यदल्पं तं मर्त्यं।'

'मनस्तु महद्वस्तु च'—अपने मन को, चित्त को, हृदय को, जितना हो सके, बड़ा करो, अनंत की भाषा में सोचो...।

हमारे जितने भी प्रयत्न हों, सार्वभौम हों संस्कृति भूमा है, इतिहास भूमा है, यह सत्य हिमालय के इन शिखरों पर अंकित है। यही सोच-सोच कर मन तरल पावनता से भरने लगा। दृष्टि फिर प्रकृति की ओर मुड़ी। अस्ताचलगामी सूर्य मानो शैलराज की संध्या-आरती उतार रहा है। आरती के उस मधुर मंद प्रकाश में ये शिखर नाना रूप धारण करने लगे। रजत-स्वर्ण-प्लातिनम, नाना वर्ण नेत्रों में चमक उठे। परंतु अंत में अंधकार की जय हुई और श्यामवर्ण के आवरण में सारी प्रकृति मौन हो रही। कई क्षण उत्तुंग हिमशिखर मानो नक्षत्र बन कर प्रकाश का जयघोष करते रहे, मानो अंधकार को प्रकाश की राह दिखाते हों। परन्तु फिर वे भी अस्तित्वहीन हो रहे। वह शान्ति और वह एकांत! घनघोर अनहद ध्वनि के सिवा वहाँ कोई शब्द न था।

अंधकार के साथ ही शीत ने भी सब कुछ को ग्रस लिया। बाहर खड़े रहना असंभव हो गया। धर्मशाला में चार बड़े कमरे हैं, चार कोठरियाँ और दो बरामदे हैं। हिम और हिंसक पशुओं के साम्राज्य में वे कमरे कैसे हो सकते हैं, इसकी कल्पना सहज संभव है। लेकिन इस समय वे ही हमारे लिए राजभवन हो गये। धूल भरे फर्श पर बिखरे भोजपत्र, सूखी टहनियाँ, अधजली लकड़ियाँ, राख के ढेर, उपेक्षित काली दीवारें, कोने में आग जल रही है और उससे उठता हुआ धुआँ कमरे में उमड़-घुमड़ रहा है। साँस लेना कठिन हो गया है। निमिषमात्र में लगा, जैसे चीख उठूँगा, 'किवाड़ खोल दो, नहीं तो मैं मर जाऊँगा।' लेकिन बाहर तो शीत का साम्राज्य है। सब कुछ कुहर में डूबा हुआ। प्राणों को शून्य करने वाली झंझा चल रही है। भीतर धुआँ, बाहर झंझा—आज का मनुष्य क्या ऐसा ही नहीं है?

मैं किसी विचार में डूब जाता हूँ। न-न, आज विचारों से मुक्ति मिले, मुझे

रात की व्यवस्था में मदद देनी चाहिए। देखता हूँ, भोजपत्रों और टहनियों पर कंवल बिछा दिये गये है। आग खूब तेज हो रही है और दिलीप बिना दूध की काली मिर्चवाली गर्म-गर्म चाय ले आता है। अहा, जी गये। पीकर शरीर में गर्मी भर आती है। लेकिन फिर भी हम आग को घेर कर बैठ जाते है। पैर सेंकते हैं और बीच-बीच में उत्तेजित हो उठते है। ऊँचाई पर आकर आदमी झुंझलाने लगता है। कुछ क्षण के लिए हम भी झुंझलाते है। छोटी-छोटी बातें बवण्डर बन जाती हैं। कुछ साथी बाहर निकल जाते है। लेकिन शरीर तो ऊष्मा चाहता है, इसलिए कुछ क्षण बाहर घूमकर फिर आग के पास आने को विवश हो जाते है। धुएँ के कारण आँखों से निरन्तर कड़वा पानी झर रहा है।

सोचने लगता हूँ सहसा धर्मशाला की बात। चीड़वासा इसका नाम है। मार्ग में चीड के अनेक वृक्ष हैं, अंतिम वृक्ष यही पर है। अर्थात चीड़वासा क्षेत्र की यह सीमा है, समुद्र-तल से 11,830 हजार फीट ऊपर।[1] पहले यात्री लोग तंबू लेकर आते थे। लेकिन जिस मार्ग पर स्वयं को ले चलना कठिन है, वहाँ तंबुओं को लाना और भी कठिन रहा होगा। संपन्न और साहसी लोग ही कभी बोझियों को लेकर वहाँ आते रहे होंगे। इस धर्मशाला के कारण आज और भी अनेक व्यक्ति इधर आने का साहस कर सकते है।

यात्रियों को सुविधा हो, इसलिए कुछ वर्तन भी यहाँ सुरक्षित है। कुछ साधु भी कभी-कभी यहाँ वर्ष-भर रहते हैं। आजकल स्वामी तत्वबोधानंद जी रह रहे हैं। जब कण-कण भूमि पर हिम का साम्राज्य छा जाता है, शिव ताण्डव-नृत्य करने लगते है तब भी वह वही रहते है। अधकार मे उनकी झलक भर ही देख पाया।

हम लोग जब हर प्रकार से गर्मी प्राप्त करने की चेष्टा मे लगे हैं, तब स्वामी सुन्दरानन्द पास की अँधेरी कोठरी में अकेले भोजन की व्यवस्था में व्यस्त हैं। श्रीप्रभा ने बहुत आग्रह किया। आग्रह की वह अधिकारिणी थी, लेकिन स्वामीजी नही माने। हम लोग हठ करके आलू काटने बैठ गये। यही हमारी विजय है। दिलीप आटा गूँथता है और स्वामी जी तन्मय होकर चूल्हे के पास बैठ जाते हैं। न उनको धुआं परेशान करता है, न अंधकार। मोमबत्ती जला कर हम उस अंधकार को प्रकाशित करने की कोशिश करते है और उसी टिमटिमाते प्रकाश मे आलू के गर्म-गर्म साग की सौंधी-सौंधी गंध हमें उत्साह से भर देती है। हम लोग फिर बातों मे लग जाते है। कुछ क्षण बाद स्वामी जी किवाड़ खोल कर कहते है, "आ जाइये, भोजन तैयार है।"

कैसा स्वादिष्ट था यह भोजन! उस नितांत निर्जन हिम और झंझा के प्रदेश

---

1. इस धर्मशाला का निर्माण मुरादाबाद के ठाकुरद्वारे वाले सेठ रघुनन्दनदास ने कराया था।

में रसेदार गर्म-गर्म साग, गर्म-गर्म रोटियाँ, यह आनन्द आया जो अमृत पीने में भी न आता होगा। उस पर स्वामी जी का निश्छल स्नेह-पूरित आग्रह, माँ का स्नेह भी जैसे फीका पड़ गया हो उसके सामने। सबसे अंत में उन्होंने माधव के साथ बैठ कर खाया। माधव सबसे छोटा जो है। स्नेह का सबसे अधिक अधिकारी वही है। स्वामी जी नैष्ठिक ब्रह्मचारी और हम नागरिक गृहस्थ। हमने संन्यासी को प्रणाम करना और उसकी सेवा करना ही सीखा था। लेकिन आज उसकी सेवा लेकर जैसे हम लज्जित हो उठे। पर साहचर्य और स्नेह ने उस ग्लानि को जैसे धो दिया। प्रकृति के प्रांगण में न कोई बड़ा है, न छोटा।

बाहर सब कुछ अँधेरे में डूब गया था। "अँधेरा गाढ़ी स्याही उँडेलता प्रत्यक्ष ही आ गया है मेरे पास।" झंझा जैसे हमको उड़ा ले जायेगी। उस निस्तब्ध अंधकार में केवल गंगा का कलकल-छलछल शब्द ही हमें जीवन का आभास दे रहा था। न थे ब्रह्म की आराधना में लिप्त हिमशिखर, न दीप्त नक्षत्र-मण्डल और न पवित्र देवदार के वन। बस था अनंत अंधकार। इच्छा जागी कि इस भयानकता को और समीप से देखा जाये। लेकिन जहाँ दिन में आवागमन निरापद नहीं है, वहाँ रात को घूमना कैसे संभव हो सकता है? वन्य पशु रात में बाहर आते हैं। तभी तो वैदिक ऋषि ने गाया था :

हम से दूर रखो युगल भेड़ियों को
देवि रात्रि, रक्षा करो लुटेरे से
सुरक्षित ले चलो हमें उदासी के पार।[1]

लुटेरे भालू इधर बहुत हैं। उनकी अनेक रोमांटिक कहानियाँ आज हम दिन भर सुनते रहे हैं। वह नारी को उठा कर ले जाते हैं। तलवे चाट कर उनको चलने के अयोग्य बना देते हैं। फिर...।

फिर अन्दर आ गये और अच्छी तरह किवाड बन्द कर लिये। धुआँ दम घोंटने लगा। लेकिन सहसा कानों में संगीत की ध्वनि फिर गूँज उठी। सतीशचन्द्र[2] को गाने का बहुत शौक है और ऐसे वातावरण में संगीत प्राणों का संबल बन जाता है। वह ध्वनि हमें जैसे सम्मोहिनी शक्ति से भरने लगी और धीरे-धीरे आँखें बोझिल हो उठीं। इस छोटे-से कमरे में, जिसके एक कोने में अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है और धुआँ पूरी शक्ति के साथ उमड़-घुमड़ रहा है। हम पाँचों प्राणी पूरे कपड़े पहने, कंबलों में लिपटे, एक-दूसरे से सटे पड़े हैं। सहसा घोरपड़े की नाक बज उठी, मानो वह कह रहे हों, कड़वा धुआँ हो या भीषण झंझा, नशीली नींद की एक लोरी प्राणों को स्वप्नलोक में पहुँचाने के लिए काफी है।

1. रात्रि की ऋचा।
2 दूसरे दल के एक महाराष्ट्रीय बन्धु।

देवभूमि उत्तरकाशी

हरसिल के पास

में रसेदार गर्म-गर्म साग, गर्म-गर्म रोटियां, वह आनन्द आया जो अमृत पीने में भी न आता होगा। उस पर स्वामी जी का निश्छल स्नेह-पूरित आग्रह, माँ का स्नेह भी जैसे फीका पड़ गया हो उनके सामने। सबसे अंत में उन्होंने माधव के साथ बैठ कर खाया। माधव सबसे छोटा जो है। स्नेह का सबसे अधिक अधिकारी वही है। स्वामी जी नैष्ठिक ब्रह्मचारी और हम नागरिक गृहस्थ। हमने संन्यासी को प्रणाम करना और उनकी सेवा करना ही सीखा था। लेकिन आज उसकी सेवा लेकर जैसे हम लज्जित हो उठे। पर साहचर्य और स्नेह ने उस ग्लानि को जैसे धो दिया। प्रकृति के प्रांगण में न कोई बड़ा है, न छोटा।

बाहर सब कुछ अँधेरे में डूब गया था। "अँधेरा गाढ़ी स्याही उँडेलता प्रत्यक्ष ही आ गया है मेरे पास।" झंझा जैसे हमको उड़ा ले जायेगी। उस निस्तब्ध अंधकार में केवल गंगा का कलकल-छलछल शब्द ही हमें जीवन का आभास दे रहा था। न थे ब्रह्म की आराधना में लिप्त हिमशिखर, न दीप्त नक्षत्र-मण्डल और न पवित्र देवदार के वन। बस था अनंत अंधकार। इच्छा जागी कि इस भयानकता को और समीप से देखा जाये। लेकिन जहाँ दिन में आवागमन निरापद नहीं है, वहाँ रात को घूमना कैसे संभव हो सकता है? वन्य पशु रात में बाहर आते हैं। तभी तो वैदिक ऋषि ने गाया था :

> हम से दूर रखो युगल भेड़ियों को
> देवि रात्रि, रक्षा करो लुटेरे से
> सुरक्षित ले चलो हमें उदासी के पार।[1]

लुटेरे भालू इधर बहुत हैं। उनकी अनेक रोमांटिक कहानियाँ आज हम दिन भर सुनते रहे हैं। वह नारी को उठा कर ले जाते हैं। तलवे चाट कर उनको चलने के अयोग्य बना देते हैं। फिर...।

फिर अन्दर आ गये और अच्छी तरह किवाड़ बन्द कर लिये। धुआँ दम घोंटने लगा। लेकिन सहसा कानों में संगीत की ध्वनि फिर गूँज उठी। सतीशचन्द्र[2] को गाने का बहुत शौक है और ऐसे वातावरण में संगीत प्राणों का संबल बन जाता है। वह ध्वनि हमें जैसे सम्मोहिनी शक्ति से भरने लगी और धीरे-धीरे आँखें बोझिल हो उठीं। इस छोटे-से कमरे में, जिसके एक कोने में अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है और धुआँ पूरी शक्ति के साथ उमड़-घुमड़ रहा है। हम पाँचों प्राणी पूरे कपड़े पहने, कवलों में लिपटे, एक-दूसरे से सटे पड़े हैं। सहसा घोरपड़े की नाक बज उठी, मानो वह कह रहे हों, कड़वा धुआँ हो या भीषण झंझा, नशीली नींद की एक लोरी प्राणों को स्वप्नलोक में पहुँचाने के लिए काफी है।

---

1. रात्रि की ऋचा।
2. दूसरे दल के एक महाराष्ट्रीय बन्धु।

भागीरथी में स्थान किया
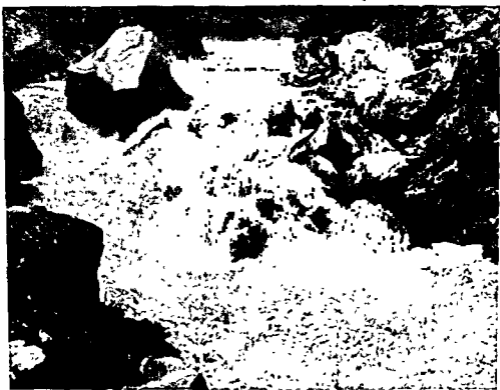
भागीरथी शान्त और उद्विग्न

जागला चट्टी के पास भागीरथी
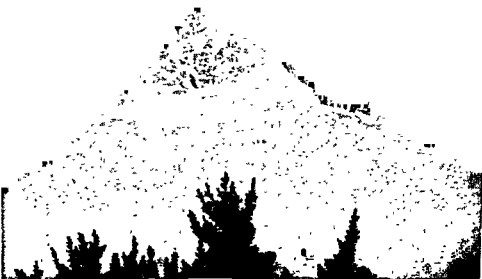
भैरो घाटी गगोत्री मार्ग पर मिहाणा रेंज

भागीरथी मे स्थान किया

भागीरथी शान्त और उद्विग्न
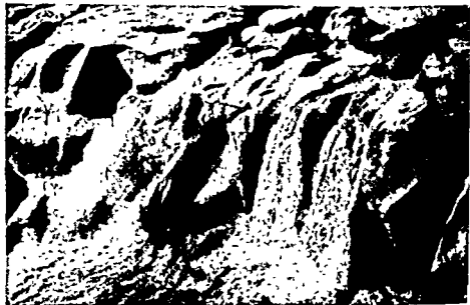
प्रकृति की लीला का अद्भुत स्थल . सूर्यकुंड

भृगुपथ

मदा शिखर

गोमुख जाते हुए मार्ग का दृश्य
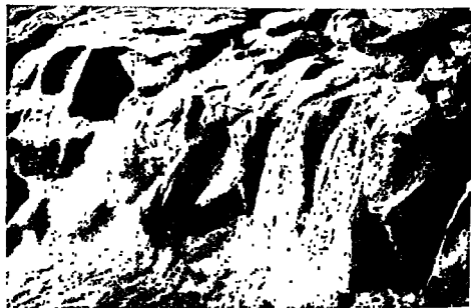
प्रकृति की लीला का अद्भुत स्थल : सूर्यकुंड

भृगुपथ

चीड़वासा डाकबँगले के पास पर्वतारोही प्रशिक्षण दल
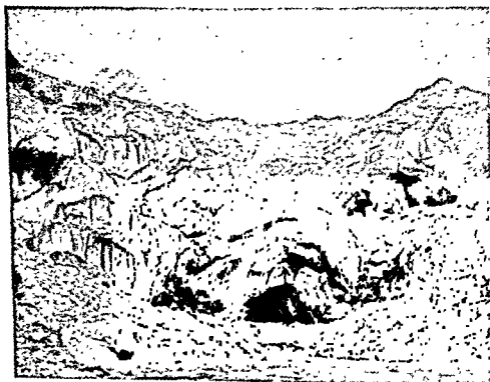
गोमुख

एक धर्मप्राण पहाड़ी परिवार

गोमुख के मार्ग पर

चीड़वासा डाकबंगले के पास पर्वतारोही प्रशिक्षण दल
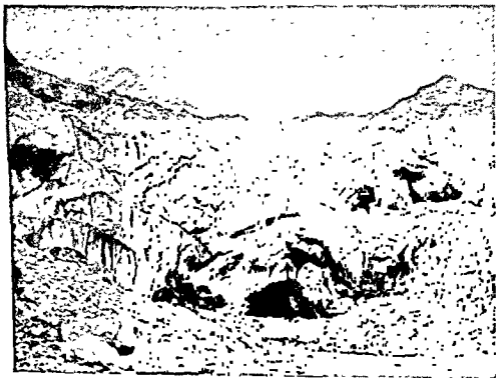
गोमुख

भागीरथ शिखर

लेकिन मैं क्या करूँ ? नींद की परियाँ मेरी आँखों में नहीं झाँकती। एक के बाद एक चित्र उभरते हैं, धुंधले तीखे कुहर में लिपटे, धूप से उजले। रेखाएँ कहीं उलझ कर, कहीं गहरी होकर किसी अज्ञात अंतर को ऊपर खींच लाती हैं। कभी मर्म को छू देते हैं, कभी प्राणों को सहला देते हैं। सहसा मैं उठ बैठा। धीरे-धीरे, शब्दहीन, साथियों को बचाता हुआ खिड़की के पास जा पहुँचा और थोड़ा-सा उसे खोल दिया। निमिषमात्र में बर्फीली वायु का एक तीव्र झोंका मुझे झकझोरता हुआ वहाँ बिखर गया और धुआँ तेजी से बाहर की ओर भागा। टिमटिमाती हुई मोमबत्ती की लौ अंतिम बार फड़फड़ाई। कई क्षण बाहर झाँकता खड़ा रहा। न कोई आकार, न रंग। है केवल अभेद्य अंधकार। सुन पाया केवल उसको चीर कर उठ रहा व्याकुल विकल भागीरथी का शब्दनाद। लेकिन इस अभेद्य को भेद कर कुछ आकार नयनों के आकाश पर उभर रहे हैं—यक्ष, किन्नर, उनकी संगीतमयी प्रेमिकाएँ और सिद्ध। सुना है ये प्रेमिकाएँ पहाड़ी युवकों को एकान्त में पाकर उन पर आक्रमण कर देती हैं। इन निर्जन प्रदेशों में बहुधा सुमधुर संगीत सुनायी देता है। कहते हैं, गंधर्व और किन्नर गाते हैं। लेकिन क्या यह सच है ? गंधर्व और किन्नर जातियाँ अवश्य थीं और इन्हीं प्रदेशों में रहती थीं। लेकिन आज वे कहाँ हैं ? आज तो प्रकृति ही संगीत अलापती है। निरंतर बहने वाली वायु जब वेणु-वन के वृक्षों से टकराती है तब ऐसा लगता है जैसे किसी नटनागर ने बाँसुरी बजायी हो। दूर चरवाहों के पशुओं के गलों में लटकती हुई घंटियाँ भी जब-तब बज उठती हैं तो वायु का स्पर्श पाकर उनका स्वर नाना वाद्ययंत्रों का संगीत बन जाता है। हिम की चादर के नीचे से उठता हुआ भागीरथी का स्वर भी तो सुमधुर संगीत में बदल जाता है। 'रघुवंश' काव्य में कवि कालिदास ने रघु की हिमालय-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है :

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचक ध्वनि हेतवः।
गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे॥

वहाँ भोजपत्रों में मरमर करता हुआ, वेणुओं के रंध्र में प्रवेश करके बाँसुरी-सी बजाता हुआ, गंगाजी के सीकरों का स्पर्श पाकर शीतल हुआ वायु रघु की सेवा कर रहा था।

प्रकृति का यही चमत्कार कवि की भाषा में मनुष्य को नाना कल्पनाएँ करने के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। जिस प्रकार आकाशमण्डल में गंधर्व नगर का प्रतिबिंब दिखाई देता है, उसी प्रकार हमारे कल्पना-जगत में गंधर्व और किन्नर साकार हो उठते हैं।

दो ही क्षण में इतना कुछ सोच गया। अधिक देर तक खड़े रहना असंभव था। विवश, खिड़की बन्द करके फिर आ लेटा। स्वामी सुन्दरानन्दजी मेरे पास

ही लेटे हैं। उन्हें भी नीद नही आ रही। अपने जीवन की कहानी सुनाने लगते हैं। आंध्र प्रदेशवासी वह नवयुवक अपने माता-पिता का इकलौता पुत्र है। पाँच बहनें है, लेकिन सबके मोह से मुक्ति पाकर वह ज्ञान की खोज मे भटकता रहा। पंद्रह वर्ष की आयु थी। बनारस, हरिद्वार, कहाँ-कहाँ नही भटका! एक बार टिकट-कलक्टर ने पकड लिया। गिरने के कारण पैर मे चोट आ गयी। चार महीने मुगलसराय अस्पताल मे रहना पड़ा। वहाँ से मुक्ति पाकर हरिद्वार पहुँचा और गाँजा पीने वाले एक साधु के पास रहा। धूनी के लिए चार मील से लकडी लानी पड़ती थी, न लाता तो भोजन नही मिलता था। अवसर पाकर एक दिन भाग निकला। कई दिन तक कच्चा आटा फाँकने के कारण पेचिश हो गयी। फिर अस्पताल मे जाना पड़ा। वहाँ से मुक्ति पाकर गगोत्री पहुँचा। यही स्वामी तपोवनम् महाराज से भेंट हुई। तब उसने मौन व्रत ले रखा था। तपोवनम् महाराज ने कहा, "तुम्हे ज्ञान कहाँ है, जो मौन लोगे? छोड़ो इसे।" जैसे उसे मजिल मिल गयी हो! यही रह कर नौ वर्ष तक विद्याध्ययन किया उसने।

"मुझे जीवन से भागने मे विश्वास नही है। आनन्द की खोज में ससार में ही रहना चाहता हूँ।" इस सरल, निष्ठावान युवक साधु की कहानी सुन कर तरल हो आया। जिस समय वह तपोवनम् महाराज के अंतिम क्षणों के सस्मरण सुना रहे थे, तब उस घोर अधकार मे भी मैं देख सका कि उनके नयन भर आये हैं और गला रुँध गया है। सोचने लगा, "साधु को भी इतना मोह सताता है!"

सहसा स्वामी जी ने कहा, "विष्णुजी, क्या रूस वाले सचमुच धर्म को नही मानते? क्या वहाँ मन्दिर, मस्जिद नही हैं? स्त्री-पुरुष मुक्त भाव से मिलते हैं? क्या इससे दुराचार नही फैलता?"

बहुत देर तक मैं इस सरल-मन साधु से रूस और साम्यवाद की चर्चा करता रहा। उन्हे इस सम्बन्ध मे बहुत-सी ग़लतफ़हमियाँ है, लेकिन जिज्ञासा का अन्त भी नही है। कही कोई आक्षेप नही, आग्रह नही है, केवल जानने की अदम्य लालसा।

दो कंबल ऊपर, दो कंबल नीचे, सभी वस्त्र पहने, बातें करते-करते हम दोनों को न जाने कब नींद आ गयी, कुछ पता नही लगा। वस्तुतः वह नींद नही थी, नींद का आभास मात्र था। कुछ क्षण ही सोया हूँगा। शेष समय तो उस ठिठुरती रात को बीतते देखता रहा।

दूसरे दिन[1] सवेरे जब आँख खुली तो घड़ी मे साढे चार बजने वाले थे। तुरत उठे और उस ठिठुरते कुहर मे बाहर निकल गये। तैयार जो होना था। जब तक लौटे, दिलीप दुग्धहीन काली मिर्चवाली चाय तैयार कर चुका था। पीकर जैसे

---

1. 7 जून, 1958

स्फूर्ति भर उठी। सामान पैक किया और अंतिम लक्ष्य की ओर चल पड़े। छह बजने में दस मिनट शेष थे। आकाश स्वच्छ था।

> उषा ने मुक्त किये हैं अंधकार के द्वार
> किरण बखेरता आलोक उसका
> प्रकट हो गया है सामने हमारे
> वह फैलता है और दूर भगा देता है,
> तमसाकार दैत्य को।

शीत इतना उग्र नहीं था। मार्ग वही—वक्र, सँकरा, आकाश-पाताल-गामी और पथरीला, पर कल से अपेक्षाकृत सरल। वही दृश्य, वही शाश्वत हिमशिखर, वही नाना पुष्प और औषधियों के द्रुम-दल, हिम-सरिताएँ, पर देखते मन अघाता नहीं।

सहसा स्वामी जी ने पुकारा, "वह उस पार पर्वत को देखो।"

दृष्टि उधर ही उठी। कुछ पशु दिखायी दिये। स्वामी जी बोले, "ये बरड है।"

मैंने दूरबीन से देखा। लगभग तीस-चालीस होंगे। शुद्ध नाम है भरल—हिरण की तरह की जंगली भेड़ें। निश्चिंत होकर चर रहे थे। कुछ बैठे भी थे। सीटी की आवाज सुन कर उनमें से कुछ हमारी दिशा में देखने लगे। दूरी इतनी थी कि देखने के अतिरिक्त और कुछ कर नहीं सकते थे। स्वामी जी बताते रहे कि इनका चमड़ा बहुत मुलायम होता है। पहले अँग्रेज लोग इनका शिकार करते थे, अब कोई नहीं करता। इस कारण वे निर्भय हो गये हैं।

गिरगिट की तरह का, परन्तु उससे काफी बड़ा काले रंग का एक चतुष्पाद जानवर भी देखा। बड़े पहाड़ी काले कौवों के अतिरिक्त वैसा ही पीली या लाल चोंच वाला कौवा भी दिखाई देता है। उसे क्यागचू कहते हैं। यह तिब्बत प्रदेश का पक्षी है। मधुरवाणी बोलने वाले कई और पक्षी दिखाई दिये। नाना वर्ण और गंध के फूल भी कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं। परन्तु उनका मौसम सितम्बर-अक्तूबर में होता है। यहीं वह जड़ी भी होती है, जिसकी जड़ रात्रि के अंधकार में रेडियम के डायल की तरह चमकती है। यह जड़ी तपस्वियों को सुलभ प्रकाश तो प्रदान करती ही है, कामदग्ध प्रेमियों के लिए अनुराग भी प्रदान करती है। प्राचीन साहित्य में इसकी बड़ी चर्चा आती है।

देखता हूँ, भोर की किरणें रूप का ताना-बाना बुनने लगी हैं। ऊषा का जादू जैसे भंग हो रहा है और सूर्य उदय हो आया है। उनकी लीला से यहाँ के दृश्य देवी हो उठते हैं। मन उमग-उमग उठता है कि उड़ कर पहुँच जाऊँ इन *स्वर्ग-शिखरों* पर और नाचता हुआ देखूँ नीचे के अनन्त विस्तार को। ऐसे ही दृश्यों को देख-देख

कर वैदिक ऋषि गा उठे थे :

> अग्नि की लपटों के समान
> हे सूर्य, तुम हो सर्व-सुन्दर क्षिप्र गतिमान
> प्रकाश के निर्माता
> ज्योति अवकाश को करते हो दीप्तमान।

पर्वत-शिखरों के मुकुट शुभ्र स्वर्णिम हो उठे। और प्रकृति मुग्धा-सी निर्निमेष उनके नयनो मे झाँकने लगी। क्षण बीते, प्रकाश बिखरता चला गया। पर्वतों ने मेघो की मेखलाएँ धारण कर ली और उनके किनारे इन्द्रधनुष हो आये।

रात का ताजा पारदर्शी हिम पानी पर धूप की भाँति चमक आया है। पत्थरों पर पैर रखना संकटपूर्ण है, रपट-रपट जाते हैं। चीड़वासा से आगे बढ़े ही थे कि बायी ओर के शिखर की ओर इशारा करके स्वामी जी बोले, "यह भृगु शिखर है। इसमे से भोजगाड या भृगु नदी निकलती है। महानन्द वैतरणी भी इसी को कहते हैं।"

इसके आगे एक और शिखर है, जो शिवलिंग की आकृति का होने के कारण शिवलिंग कहा जाता है। वह ऊपर से नीचे तक हिम से ढँका हुआ है। उसका धवल वर्ण उसकी आकृति को अलौकिक बना देता है। इस शिखर को अभी तक कोई नही जीत सका। मेघो की मेखला धारण किये यह गर्वोन्मत्त अजेय धवल शिखर क्षण-क्षण में रूप पलटता है।

उसको देखते हुए आगे बढ रहे थे कि महानन्द वैतरणी के पास पहुँच गये। देखा, धारा बहुत पतली है। परन्तु जमी हुई है। बर्फ जब पिघलती है तो वह विस्तृत और तीव्र हो उठती है। पार करना असंभव हो जाता है।[1] अनेक यात्री यही से गोमुख को प्रणाम करके लौट जाते है। हम सौभाग्यशाली थे। हिम पर से होकर उस पार चले गये। बच्चों की तरह उल्लास से भर कर स्वामी जी बोले, "अब हम देवलोक में आ गये है।"

कितनी क्षीण है मृत्युलोक और देवलोक की यह सीमा! लेकिन जो क्षीण है वही अलघ्य हो रहता है। मानव-मन के विस्तार की तरह प्रकृति के विस्तार को भी कितने खडो मे बाँटा है, जैसे यह मानव-मन का प्रतिरूप ही हो। जो यहाँ आ सकता है, सचमुच वह स्वर्ग मे आता है। उस स्वर्ग का वर्णन नही हो सकता। अनुभव ही किया जा सकता है। पार्थिव जगत से यह नितात भिन्न है। शांति का साम्राज्य, मुक्त सौंदर्य का विस्तार, इसके अतिरिक्त भी कुछ है, जिसे शब्दों मे

---

1 कवि लीलाधर जगूडी की कल्पना इसका एक और रूप प्रस्तुत करती है। चैत-बैशाख मे कमके चार घाम पड जायें तो पिघलती बर्फ से वह अचानक बड़ी हो जाती है। जैसे कोई छोटी लड़की अपने नये झगुले मे बडी दीखती है। (घबराये हुए शब्द, पृ० 66)

नही बांधा जा सकता...।

मन में यही मुग्ध मंथन था कि स्वामी जी बोले, "यह देखो, यह पुष्प-वासा है। भाँति-भाँति के पुष्प यहाँ खिलते है।"

शीत कुपित होता आ रहा था। रुक कर प्रकृति के इस पुष्पोद्यान को देखने का उत्साह किसी में नही था। यह एक छोटा-सा समतल भूमि-खण्ड है। शीत ऋतु मे यहाँ नाना प्रकार के पुष्प उग आते हैं, लेकिन हमें तो ग्रीष्म का शीत ही पीडित कर रहा था। दस्ताने पहने रहने पर भी हाथ इतने ठिठुर आये थे कि लाठी पकड़ना असंभव हो उठा। वोझी ने आग जला दी कि सहसा तभी देखता हूँ, श्रीदत्त धड़ाम से पृथ्वी पर गिर कर मूच्छित हो गये हैं। हम सब काँप उठते है। जल्दी-जल्दी स्वामी जी उनके हाथ-पैर सेंकते हैं। मैं फ़ादर मुलर की गोलियाँ खाने को देता हूँ और उत्सुकतापूर्वक सबकी दृष्टि उन पर स्थिर हो जाती है। क्षण बीतते हैं, मानो युग बीतते है। क्या-क्या न सोच गये कि उनकी पलकें हिलती हैं। वे आँखें खोलने का प्रयत्न करते हैं। खोल देते हैं। प्राण जैसे लौट आये। इन्ही बंधु के कारण तो हम यहाँ तक आ सके है। मानसरोवर पैदल हो आये हैं।

जैसे सहसा गिर पड़े थे, वैसे ही उठ बैठे। बोले, "न जाने मूर्च्छा क्यों आ गयी!"

उनके एक बंधु ने कहा, "आपने तो घी डालकर चाय पी थी।"

यह सुनकर श्रीप्रभा बोल उठी, "ओह, यह बात है। वह घी जम गया है, दत्तभाई! आग के और पास आ जाओ। पिघल जायेगा।"

सहसा एक मुक्त अट्टहास से वह वनप्रांत गूँज उठा। यशपाल जी ने श्री दत्त का फेंटा बाँधा और उनका मार्ग-दर्शक, जो बहुत ही मस्त जीव था, उनको इस प्रकार खींच कर ले चला, मानो वह चतुष्पाद हों।

भागीरथी और शिवलिंग-शिखर निरंतर पास आते जा रहे थे। बायीं ओर नैलंग पर्वत-श्रेणी थी, जिसका वर्ण आगे चल कर ताम्र का-सा हो जाता है और वह ताम्रवर्णी पर्वत कहलाता है। जड़ी-बूटियाँ इस सारे मार्ग पर बिखरी पड़ी है। स्वामी जी ने एक बूटी उखाड़ कर कहा, "यह आर्चा है। टिंचर आयोडीन की तरह इसे चोट पर लगाया जाता है। यह देखो पागचा। इसकी सूखी पत्तियाँ चाय की तरह काम में आती है। लेकिन बहुत गर्म होती है। इसी के सहारे तो हम हिम प्रदेशों मे जीवन की ऊष्मा पाते है।"

मार्ग मे हिमनद बार-बार आते हैं। पार करना सरल नही। पक्की बर्फ पर किस क्षण पैर फिसल जाये। एक स्थान पर देखा कि नदी की उथली धारा में पत्थर पड़े हुए हैं। सोचा, इसको आसानी से पार कर लेंगे, लेकिन जैसे ही यशपाल जी ने पैर बढाया, स्वामी जी ने उन्हें रोक दिया। तब ध्यान से देखा कि उन पत्थरों पर हिम की झीनी-झीनी चादर बिछी हुई है। उस पर पैर टिकाना असंभव

है। स्वामी जी ने लोहे की नोक से उस हिम को खुरचा। फिर मिट्टी लाकर डाली तब कहीं हम धारा को पार कर सकें। अब गंगा हिमानी को भी देख सकते थे। उसी के बीच में गोमुख एक विशाल रंध्र की तरह चमक रहा था। स्वामी जी बोले, "बस, इस मोड़ के बाद वहाँ पहुँच जायेंगे।"

यहाँ के विकट मार्गों पर यात्री भटक न जाये, इस कारण ऊँचे-ऊँचे पत्थरों पर छोटे-छोटे दो-दो, तीन-तीन पत्थर रख कर संकेत बना दिये गये हैं। स्वामी जी इस मार्ग से इतने परिचित हैं कि तुरन्त कोई-न-कोई शंकु-पथ खोज लेते हैं। उन्हीं के सहारे हम मेरु हिमधारा के पास पहुँच गये। यह धारा गोमुख से दो मील ऊपर तपोवन से आती है। कैसा अद्भुत दृश्य है! चारों ओर शुभ्र,श्वेत हिम-शिखर, कलकल करती वेगवती भागीरथी की धारा में बिखरी विहँसती धूप, नील गगन में यहाँ-वहाँ क्रीड़ा करते मेघशावक मानो आमन्त्रित करते हैं कि आओ, हमारी क्रीड़ा में भाग लो। बंगाली-दल का मार्ग-दर्शक सहसा वहीं लेट गया और गाने लगा। उस गढ़वाली गीत का अर्थ मैं नहीं समझता। उसी से पूछना पड़ा। मुसकराकर बोला, "मुझे याद आ रही है, मुझे अपने माँ-बाप की याद आ रही है।" फिर एकाएक गाता-गाता कह उठा, "मैं मरना चाहता हूँ। मैं यहीं मरना चाहता हूँ।"

क्या पर्वत प्रदेश का यह बोझी इस रहस्य को जान गया है कि जिस क्षण मृत्यु से साक्षात्कार होता है, वही क्षण चरम जीवन-बोध का क्षण है? जो अस्तित्ववाद बुद्धिवादियों के लिए अगम्य है, उसकी अनुभूति कितने सहज भाव से उसे हो रही है।

तभी कानों में एक और सुमधुर संगीत गूंज उठा। देखता हूँ, मराठी बंधु सतीशचन्द्र विमुग्ध-विभोर रवि ठाकुर का यह गीत गा उठे :

अयि भुवन मनमोहिनी,
अयि निर्मल सूर्य करोज्ज्वल धरणी,
जनक जननी जननी।
नील सिन्धु जल-धौत चरण तल,
अनिल विकम्पित श्यामल अचल,
अम्बर चुम्बित भाल हिमाचल,
शुभ्र तुषार किरीटिनी।

न-न, शब्द नहीं, संगीत भी नहीं, इस रूप को मौन स्तब्ध निर्निमेष देखो।

सचमुच तब हम विमुग्ध मौन गोमुख की दिशा में देखते रहे। मानो किसी दूसरे लोक के सर्वातिशय सौंदर्य को अंतर में अनुभव कर रहे हैं, मानो वह क्षण हमारी कल्पना का अंग होकर रह गया हो। यही तो ब्रह्मानन्द है। तभी तो बोझी

ने गुहार की थी—'मैं यहीं मरना चाहता हूँ।' तभी वेटोस्लोव रोरिक ने गद्गद स्वर में कहा था—"हिमवान, ओ सुन्दर, तू हमें अद्वितीय निधियाँ प्रदान करता रहा है और तू हमेशा के लिए प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों का, पृथ्वी और आकाश के सम्मेलन का प्रहरी बना रहेगा।"[1]

जब हमने विशाल पत्थरों वाले इस अंतिम मोड़ को पार कर लिया तब ऐसा लगा, मानो किसी दिव्य लोक में पहुँच गये हों। यही है विश्वविश्रुत 'तुहिन शिखर शृंगे दिव्य सौभाग्य समवन्' गोमुख। यही है बीस मील लम्बी हिमानी का द्वार। यही है शिव की जटाओं में खेलने वाली विष्णुपदी, पुण्यतोया भागीरथी का शिशु रूप। गति में अदम्य वेग भरे, शिलाखंडों से मेटती, सब कहीं शुभ्र-श्वेत-धवल सुषमा बिखेरती, हिमवान की यह यौवन-मदमाती लाडली बेटी रत्नेश में लय होने के लिए भागी चली जा रही है। शिखर शांत गंभीर हैं। मानो इस उद्दाम गतिमय जीवनानंद से स्तब्ध रह गये हों। हिमानी की विशाल पारदर्शी दीवारें लक्ष-लक्ष धाराओं में पिघल कर बेटी को अर्घ्य देती, उसे रिझाने को शत-शत इंद्रधनुषों का निर्माण करती, मौन युगपुरुष-सी न जाने किस अनादि काल से ऐसे ही खड़ी हैं। अन्य तीर्थों की भाँति यहाँ न मंदिर हैं, न पण्डे-पुजारी, न भिखारी। यहाँ तो अपने दिव्य रूप में प्रकृति की विराटता का निर्वैयक्तिक विपुल ऐश्वर्य ही चारों ओर फैला है, "यो वै भूमा: तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।" मैं स्तब्ध था, इस विराट ऐश्वर्य के समक्ष समर्पित मुक्त।

इस स्थान का नाम गोमुख (12,770 फीट) है। परंतु यहाँ गाय का मुख नहीं बना है। गो का एक अर्थ पृथ्वी भी होता है। यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि भागीरथी का वास्तविक उद्गम यही है। यह हिमानी चौखम्बा शिखर से आरम्भ होकर गोमुख में समाप्त होती है। अर्थात बीस मील लंबी हिमानी के भीतर से बहती हुई भागीरथी इस स्थान पर पहली बार पृथ्वी पर प्रकट होती दिखाई देती है। इसीलिए इस गुहाद्वार का नाम गोमुख हो गया है। कहीं-कहीं यह हिमानी चार मील तक चौड़ी है। इसकी आयु क्या है, कोई नहीं जानता। नीलाभवरण दूर से श्याम दिखाई देता है। उद्गम स्थल पर एक हिम-कंदरा की पारदर्शी सीमाओं में बँधी छोटी-सी जलधारा, जो लगभग तीस फुट चौड़ी और तीन फुट गहरी है, भीषण नाद करती हुई उद्दाम वेग से नि:सृत होती है। यह विस्तार ग्रीष्म ऋतु में बढ़ जाता है और हेमंत में घट जाता है। कंदरा का मुख अँग्रेज़ी अक्षर 'यू' के आकार का है, लेकिन वह सदा एकरूप नहीं रहता। जब सूर्य प्रखर होता है तो हिमानी पिघलने लगती है। जब शीत मुखर होता है तो जल भी जम जाता है। इस प्रत्यावर्तन में हिम नाना रूप धारण करता है।

---

1. 'आरोग्य', अगस्त, 1961

पारदर्शी दीवारों के सहारे इस प्रत्यावर्तन के कारण असंख्य हिम-शलाखाएँ बन गयी हैं। जैसे किसी ने झूमर लटका दिये हों।

माधव किशोरोचित अल्हड़ता से सबसे पहले गुहाद्वार के पास पहुँचने के प्रयत्न में था। मेरे साथ थे सतीशचंद्र। हमारे पैरों में भी जैसे गति भर गयी थी। गुहा के पास जाकर हम आनंदातिरेक से पुलक उठे और उस भयंकर शीत में प्राणों की चिंता भूल कर स्नान करने के लिए वस्त्र उतारने लगे। कुछ क्षण बाद ही शेष साथी भी आ पहुँचे। हम स्नान करने जा ही रहे थे कि बालोचित चपलता से कूदकर स्वामीजी हमारे पास आये, और बोले, "आओ, गुहा के अंदर चलें।"

इस रहस्यमयी हिम-गुहा के भीतर क्या मानव कभी जा सकेगा? परन्तु तब तो जीवन और मृत्यु की सीमा-रेखा ही मिट गयी थी। दूसरे ही क्षण हमने पाया कि हमारे सिर पर नील-श्यामल शाश्वत हिम की छत है शरीर सिहर रहा है, प्राण पुलक उठे हैं। सहसा चेतावनी पाकर हमने पंचस्नानी थी। स्वामीजी ने मंत्र पढ़े और उस पारदर्शी हिम-गुहा की दीवारों में अपना प्रतिबिम्ब देखते हुए हम लौट पड़े। यक्ष-प्रियाएँ इन्हीं प्राकृतिक दर्पणों में अपनी छवि निहारा करती होंगी।

सूर्यताप के कारण हिमानी बराबर पिघल रही थी और असंख्य जल-धाराओं के साथ-साथ उसकी छत पर पड़े लघु और विशालकाय पत्थर नीचे सरक आते थे। जैसे ही हम बाहर आये, यशपाल अंदर पहुँचे। माधव भी दौड़े-दौड़े आये। तभी सहसा पत्थर गिरने लगे। भयातुर होकर हमने उन्हें बाहर आने के लिए पुकारा। लेकिन जलधारा के प्रचण्ड स्वर के कारण वे सहसा सुन न पाये। बार-बार हाथ से संकेत करने पर ही वे बाहर निकले। यशपाल निकले ही थे कि एक पाषाण-खण्ड उनके सिर के ऊपर से होता हुआ बड़े वेग से जलधारा में आ गिरा। माधव और भी पीछे था, क्षण-भर के लिए हम सकपका उठे। लेकिन वह भी सकुशल बाहर आ गया। इस संकट से बच जाने के कारण स्वाभाविक रूप से हम सबको बड़ी खुशी हुई, लेकिन दिलीपसिंह क्रुद्ध हो उठा। बोला, "ऐसे स्थानों पर दुस्साहस का परिचय देना कोई गर्व का विषय नहीं है, मूर्खता है।"

गुहा के मुख्य द्वार से कुछ इधर ही हम लोगों ने स्नान किया। नेत्र मूँद कर कम्पित शरीर और पुलकित प्राणों पर पात्र में भर-भर कर हिमजल डालने लगे। सब परिजन और मित्रों के नाम विद्युत गति से मस्तिष्क में उभर रहे थे। चलते समय उनकी इच्छा थी कि पवित्र सरिता में स्नान करते समय हम उन्हें भूल न जायें। यह इच्छा उस समय कैसी भयंकर हो उठी थी, उसकी कल्पना अकल्पनीय ही है। लगता था, रक्त मानो हिम बन गया है। परन्तु जैसे ही कसकर तौलिये से शरीर रगड़ा, रक्त की गति तीव्र हुई तो लगा मानो जीवन-दायिनी ऊष्मा के स्पर्श से सब रोग-शोक नष्ट हो गये है। धर्मभीरू इसी सौभाग्य को पुण्य की संज्ञा देते हैं।

देखता हूँ, घोरपडे, माधव और यशपाल चित्र लेने मे व्यस्त हो गये है। दिलीप और बोझी चाय बना रहे है। स्वामी जी भागीरथी-स्तवन का पाठ कर रहे है :

भागीरथी कृपासिन्धुर्भवानी भवनाशिनी।
सागरा स्वर्गदा चैव सर्व संसार गामिनी॥

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तन्
महेश्वर्यं लीलाजनित जगतः खण्डपरशाः।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्त सुमनसां
सुधा सौंदर्य ते सलिलमशिवं नः शमयतु॥

मै शिलाखण्ड पर बैठकर पत्र लिखने लगता हूँ। मेरे तीनो ओर पारदर्शी हिमानी है। *उसका इंद्रधनुषी रूप मेरी आँखों में तैर रहा है। देखता हूँ, धीरे-धीरे* सभी साथी स्मृति-स्वरूप भोजपत्रों पर प्रियजनों को पत्र लिखने लगे हैं। तभी दिलीप विना चीनी की वही काली मिर्चवाली चाय ले आया। श्रीप्रभा लायी चूरमा। भागीरथी के तटवर्ती एक बड़े शिलाखण्ड पर हमने वह अपूर्व भोजन किया और फिर पत्र और डायरी लिखने मे व्यस्त हो गये। डेढ घंटा बीत चुका है। दिलीप का आदेश है, "अब हमे लौट चलना चाहिए। किसी भी क्षण हिमपात हो सकता है। तब यहाँ से निकलना असभव हो जायेगा।"

मन नही चाहता, लेकिन लौटना तो है ही। तुरत खड़े हो गये। एक बार जी भर कर उस रूप को देखा। वह वर्णनातीत रूप, वह पारदर्शी हिमानी, उडते जल-सीकर, निरतर रिमझिम-रिमझिम टपकती बूंदों से बनी झाड़फानूस-सी सहस्रों सीढ़ियाँ और उन सब पर पड़ती सूर्य की किरणें जो प्रतिक्षण असख्य इंद्रधनुषों का निर्माण करती हैं। प्रकृति का यह अनंत मुक्त विस्तार, यह निर्विकल्प सत्ता की बोधमयता, कैसे लिखूं! क्या आनंद था वह! ब्रह्मानंद सरोवर ऐसा ही तो होता होगा।

निराकार एकांत व्याप्त था मेरे चहुँ दिशि
सब कुछ था बन गया अनोखा और अनामो
एकाकी अज, विश्वातीत, एक सत्ता थी
शिखरहीन, तलहीन सदा के लिए स्थाणु। (अरविंद)

कल मेघ छाये थे। आज इस हिम-प्रदेश मे भी प्रखर धूप फैली है। स्वामीजी बोले, "बड़े पुण्यात्मा हैं आप। यहाँ धूप कहाँ? विरला ही इस सौभाग्य का अधिकारी होता है।" सोचा, वह मार्गदर्शक तभी तो यहाँ मरना चाहता था। ऐसे

सुंदर, पवित्र और दिव्य स्थान पर आकर जीने की कामना कहाँ रह जाती है? कैसा लगता होगा यह प्रदेश जब यहाँ चारों ओर हिम का सन्नाटा छा जाता होगा! अकल्पनीय...!

बारह बजने वाले हैं। दिलीप ठीक कहता है, यह विहँसती सुषमा न जाने कब रूद्र रूप धारण कर ले, इसीलिए अंतिम बार गोमुख को प्रणाम करके लौट चले। शिलाखण्ड पर खड़े होकर सतीशचन्द्र ने कहा :

सैर की, खूब फिरे, फूल चुने, शाद रहे।
बाग़बाँ जाते हैं, गुलशन तेरा आबाद रहे॥

वही विशालकाय पत्थरों से भरा मार्ग, हिमानी की दो मील लंबी दीवारों से भी पत्थर गिर रहे हैं। हम तक पहुँच रहे हैं, लेकिन हम तो निरंतर आगे बढ़ रहे हैं और स्वामीजी फिर अपनी कहानी सुना रहे हैं, "यह देखो, यह शिवलिंग शिखर है। इसकी उपत्यका में दो मील पर तपोवन[1] है। काफ़ी दूर तक बर्फ पर चलना होता है। चार-पाँच मील के क्षेत्रफल का मैदान है। उसमें घास के हरे कालीन बिछे हैं। बीच-बीच में सर्पाकार सरिताएँ बह रही हैं। इधर-उधर कंदराएँ हैं। उन्हीं में कभी प्राचीनकाल के तपस्वी रहा करते थे। वहाँ से गंगा-हिमधारा को पार करके नंदनवन आता है। इस ढलाऊ मैदान के ठीक बीच में सर्पाकार गति से बहने वाली नंदिनी नाम की सरिता के दोनों तटों पर पुष्प खिले रहते हैं। वहाँ से भागीरथ पर्वत के श्वेत तंबुओं के-से दिखायी देने वाले तीन शिखर बहुत मोहक लगते हैं। यहीं से होकर बद्रीनाथ को मार्ग जाता है। फिर रक्तवर्ण हिमानी के साथ-साथ चलकर दही गाड़ शिखर को पार करके नीलंग से कुछ ऊपर निकल जाते हैं। तपोवन से एक मार्ग कीर्तिबामक को पार करता हुआ गहनबामक से केदारनाथ पहुँच जाता है। बद्रीनाथ अनेक बार हो आया हूँ। एक बार चौदह व्यक्तियों का दल लेकर गया था, जिनमें एक महिला भी थी। लौटते समय पैंसठ वर्ष के एक साधु भी साथ आये थे।"

स्वामी जी की रोमांचक यात्राओं का विवरण सुनते-सुनते हमारा मन भी रोमांचित हो आता है। जब एक नारी और एक वृद्ध साधु उस मार्ग को पार कर सकते हैं तो हम क्यों नहीं कर सकते? लेकिन तब यह संभव नहीं हो सका। न हमारे पास साधन थे, न ऋतु का कुछ पता था। इसलिए हम लोग गंगोत्री की ओर ही बढ़ते चले गये। मेरु-हिमधारा के पास पहुँचकर एक चट्टान पर अनेक शिशु पत्थर रखे हुए थे। पूछा, "यह क्या है?"

---

1. सन् 1981 में मैं वहाँ जा सका। देखें खण्ड चार।

स्वामी जी बोले, "जो व्यक्ति इधर आते हैं, कोई-न-कोई मानता मान कर एक पत्थर यहाँ रख जाते हैं। विश्वास है कि उनकी यह मानता भागीरथी अवश्य पूरा करती है।"

मनुष्य कितना दुर्बल है ! इस दुर्बलता पर मुझे खीझ आती है। लेकिन तब न जाने क्या होता है, एक पत्थर उठाता हूँ और चट्टान पर रखते हुए मन-ही-मन कहता हूँ, "विश्व-शांति के लिए।"

गांधी जी से किसी ने पूछा था, "जो वृक्षों की पूजा करते हैं क्या वे जड नहीं हैं?" उन्होंने उत्तर दिया था, "जो व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए वृक्षों की पूजा करता है, वह निश्चय ही जड है। लेकिन जो दूसरों के लिए मानता मानता है, उसे मैं जड़ नहीं कहूँगा।"

वह पत्थर रखते समय मेरे मन में भी यही तर्क काम कर रहा था और मैं प्रसन्न था। लेकिन दो क्षण बाद क्या देखता हूँ, प्रकृति अँगड़ाई ले रही है। नीलाकाश में तैरते हुए मेघ-शिशु विशालकाय रूप धारण करके उसके पूरे विस्तार पर छाते आ रहे हैं। सब-कुछ कुहर में छिपने लगा है। भागीरथ शिखर, शिवलिंग शिखर—सभी कुहर के आवरण में नव-वधू की तरह अर्ध-उन्मीलित नेत्रों से झांकने लगते हैं। अभी कुछ देर पहले भागीरथी शिखर ऐसा लग रहा था जैसे असंख्य जटाओं वाले तपस्वी भगीरथ तप में रत हैं और अभी उसका यह रूप...!

तभी हिमपात होने लगा। छोटे-छोटे कण धरती पर और हमारे वस्त्रों पर बिखर गये, मानो आकाश ने श्वेत पुष्पों की वर्षा की हो। तब वह सुहावनी सलोनी ऋतु और भी प्रिय लगी।

यही सब देखते, उमँगते, विहँसते हम तीव्र गति से आगे बढ़ रहे थे कि सहसा क्या देखता हूँ, दूसरे दल के लोग कुछ दूरी पर हमारी राह देख रहे हैं। पास जाने पर पता लगा कि एक साधु गिर पड़े हैं। व्याकुल स्वर में बोले, "आपको छोड़ कर चल पड़े थे, उसी का दंड मिला है।"

सोचता हूँ कि क्या सचमुच यहाँ आकर मन पवित्र होने लगता है ! चोट काफी आयी है। टिंचर लगाकर उन्हें खाने के लिए गोलियाँ भी देता हूँ। कैसे आश्चर्य की बात है ! सवेरे जब श्रीदत्त मूर्च्छित हो गये थे, तब उन्हें भी मैंने यही गोलियाँ दी थीं। उस समय इन्हीं साधु ने कहा था, "मुझे भी यह गोली खाने को दो।"

मैंने उत्तर दिया, "आप स्वस्थ होकर गोली क्यों खाते हैं ? आवश्यकता होने पर हम स्वयं देंगे।"

यही बात सतीशचन्द्र को याद आ गयी। बोले, "सवेरे जो माँगने पर न मिला, वही अब बिना माँगे पाया।"

मैंने कहा, "आपका मतलब है कि उन्होंने इसीलिए चोट खायी। नहीं, नहीं,

दवा की गोली क्या ऐसी लुभावनी वस्तु है कि उसके लिए प्राण संकट में डाले जायें ?"

सब लोग हँस पड़े। पर मनोवैज्ञानिक निश्चय ही इन दोनों में कोई-न-कोई सबध ढूँढ़ निकालेगा। पर जाने दें आज मनोवैज्ञानिकों को। हिमपात अब बंद हो चला है। धर्मशाला भी दिखायी देने लगी है। लेकिन यह दाहिनी ओर कुटी कैसी है? उसमें एक साधु रहते थे। इस समय नहीं है। स्वामी जी बोले, "उधर स्वामी मस्तराम के शिष्य रहते है, लेकिन इस समय जाना उचित नहीं होगा। देर हो सकती है।"

जिस समय हम चीड़वासा पहुँचे, तीन बज चुके थे। कुल सवा तीन घंटे लगे। जाते समय चार घंटे दस मिनट लगे थे। नीचे उतरना सहज होता है न? यही सोचता-सोचता देखता हूँ कि खूब धूप निकल आयी है और प्रकृति मुसकरा रही है। हम भी मुसकरा आये। आग जल उठी और गोमुखी चाय तैयार होने लगी। लेकिन जब तक हम उसे पी सकें, बाहर वर्षा आरंभ हो जाती है। कहाँ गयी वह सुनहरी धूप, वह सूर्य की मादक मुसकान? जैसे प्रकृति ने अपने सभी रूप आज दिखाने का निश्चय कर लिया हो। क्याग-चू 'चूं-चूं' करने लगा। स्वामी जी बोले, "आइये, स्वामी तत्वबोधानंद जी से मिल लें।"

लबी जटाएँ, लबा इकहरा शरीर, मुख पर ज्ञान और सौम्यता की आभा, नयनों मे कारुण्य का तेज, स्वामी तत्वबोधानद जी धुएँ से भरी कोठरी मे शात मन जैसे समाधिस्थ हों। बड़े प्रेम से हमारा स्वागत किया। बहुत शीघ्र ही हम जान गये कि बहुश्रुत और बहुपठित साधु हैं। घूमे भी खूब हैं। महात्मा गांधी और पडित जवाहरलाल नेहरू से खूब परिचित हैं। किसी प्रसग में अपने बम्बई-प्रवास की चर्चा करते हुए सहसा बोल उठे, "नेहरू नास्तिक नही है। बम्बई की एक सभा मे मैंने उनको देखा था। बहुत भीड थी, अत्यन्त अव्यवस्थित और चंचल वह उसको व्यवस्थित करने की चेष्टा कर रहे थे। सहसा उन्होने एक ब्रह्मचारी को देखा और उससे बैठने की प्रार्थना की। लेकिन कहने से पूर्व उसे हाथ जोडकर प्रणाम किया। जिसका अन्तर्मन आस्तिक है, वही ऐसा कर सकता है। आज हम आस्तिक की अत्यन्त सकीर्ण व्याख्या में उलझे है।"

एक क्षण रुक कर फिर बोले, "आप हमारे अतिथि हैं। आटा, दाल आदि कुछ चाहिए तो ले लें।"

स्वामी सुन्दरानदजी हँस पडे, "इस निर्जन बीहड प्रदेश में आप से लें या दें?"

उन्होंने कहा, "आपकी आवश्यकता पूरी होनी चाहिए। यदि आपके पास बच जाये तो हमें देते जाइये।"

सब लोग हँस पड़े। मैंने पूछा, "स्वामी जी, आपका मन नीचे जाने को नहीं करता?"

बोले, "सचमुच नही करता, क्योंकि यहाँ का वातावरण ऐसा है कि ध्यान-साधना के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, सहज ही सब-कुछ हो जाता है।"

सोचता हूँ, इस सहजता को पाने के लिए कुछ दिन रहना होगा। ऊँचाइयो पर आकर बहुत कुछ सहज हो रहता है। पवित्र स्थान पर ही पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं। पर उन्हें अनुभव करने के लिए अवकाश के क्षण आवश्यक है। फिर अपनी जीवनचर्या की चर्चा करते हुए बोले, "पहले जब यहाँ हिम का सन्नाटा छा जाता था तो मैं हिम-जल ही पीता था, लेकिन एक बार क्या हुआ कि सारा शरीर वात से जकड गया। नाना प्रकार के रोग पैदा होने लगे। तब मैंने बर्फ़ मे छेद करके गंगाजल निकालना शुरू किया। उसके पीने से सब रोग-ताप मिट गये।"

फिर वन्य पशुओं की चर्चा चल पडी। हँसकर बोले, "यह जो गर्म चादर ओढे हूँ, जानते है, यह मैंने एक रीछ से ली थी। आप पूछेंगे, कैसे? सुनिये, यहाँ तीन प्रकार के रीछ होते हैं—सफ़ेद, भूरे और काले। सफ़ेद और भूरे रीछ बहुत ऊँचाई पर होते है और वे आदमी से डरते है, पर काला बहुत दुष्ट होता है, कपड़े तक उतार ले जाता है। पेड़ पर घेरा बनाकर उसमे रहता है। घूमते-घूमते एक दिन मैंने कंबल का एक ऐसा ही घेरा देखा। रीछ उसके भीतर बैठा था। पत्थर मार-मार कर मैंने उसे भगा दिया।"

मैने पूछा, "उसने मुकाबला नही किया?"

बोले, "एक तो दिन का समय था, फिर मैं ऐसे स्थान पर था जहाँ वह आसानी से नही पहुँच सकता था। भाग कर उसे जान बचानी पडी। मैं वह कंबल उतार लाया। बहुत गंदा था। कई दिन तक गंगा के पानी मे डाले रखा, फिर सुखाकर ओढ़ने लगा।"

रीछ की कहानियों का कोई अंत नही था। वह छोटी-सी कोठरी अट्टहास से गूँजने लगी। सतीशचन्द्र ने गाना भी गाया। मार्गदर्शक और बोझी भी पीछे नही रहे।

भोजन के उपरांत आग के चारों ओर बैठकर लिखते रहे, बातें करते रहे, और गाते रहे। लेकिन शीत धीरे-धीरे हमारी मज्जा के भीतर तक आ पहुँचा था। आक्रांत होकर हम अपने-अपने कंबलों मे घुसने को विवश हो गये, लेकिन मेरा मन इस सब उल्लास के बावजूद एक अवसाद मे भरा आ रहा था। कहते हैं, ऊँचाई पर क्रोध आता है। पर क्यों? यही मैं सोच-सोच कर व्यथित हो रहा हूँ। क्रोध का कारण ऊँचाई नही है, मन की दुर्बलता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को बुद्धिमान और त्यागी मानता है, पर सचमुच त्याग क्या है, यह वह नही जानता। शब्द को पकड़ कर कहता है, 'मैंने त्याग को पा लिया।' लेकिन यदि प्रकृति के इस पवित्र वातावरण मे मन की दुर्बलता को न जीत सके तो 'चरैवेति चरैवेति' का मंत्र व्यर्थ है।

स्वामी जी ने फिर प्रश्नो की झड़ी लगा दी। न जाने कब तक विचार-विनिमय चलता रहा, कब नीद आ गयी। जिस समय घोरपड़े की आवाज सुनी तो घडी मे चार बज रहे थे। ऐसा लगता था मानो हमारे चारों ओर हिम-शिलाएँ रखी हुई है, हम उठ न सकेंगे। लेकिन आज तो वापस लौटना था। गोमुख का भव्य दृश्य आँखो में भर उठा। जिस समय हम जाने के लिए तैयार हुए, साढे पाँच बज रहे थे। स्वामी तत्वबोधानद जी हम लोगों को विदा करने के लिए बाहर आ गये। प्रातःकालीन[1] प्रकाश में उनकी मूर्ति और भी भव्य हो उठी। सौम्य स्नेहिल स्वर मे उन्होंने कहा, "आपकी यात्रा शुभ हो!" प्रकृति की मूक वाणी ने भी मानो उनके स्वर मे स्वर मिलाया। हिमशिखरो पर सूर्य-किरणें उतर आयी। मृदु मद मुसकान से वह भी मानो कह उठी, 'शुभास्तु पथान.।'

लौटते समय देववन मे पुष्पों और फलो के सबंध में काफी जाँच की। एक विचित्र बूटी स्वामी जी ने दिखायी। चट्टान की ओट मे मिट्टी मे सिर ऊँचा किये वह बूटी चार अँगुल की होगी। उसका फैलाव जाल की तरह था। चने के पत्ते जैसे उसके पत्ते थे और ऊपर के भाग मे पुष्प खिले थे। जड के पास डठल से रस बहकर मिट्टी पर फैल रहा था। कहते है यह रस इस बूटी के अश्रु है, इसीलिए उसका नाम रुदती या रुद्रवती पड़ गया है। स्वय शिव ने पार्वती से इसके गुणो का वर्णन किया था। गधक के साथ इसके ताजे रस का शोधन किया जाये तो यह कुष्ठ रोग की अमोघ औषधि बन जाती है। यदि पारद के साथ शोधन किया जाये तो मनुष्य मे अदृश्य होने की शक्ति पैदा हो जाती है। मनुष्य रुद्रवती के इस गुण को नही जानता, इसीलिए वह रोती रहती है। नही मालूम, यह अलौकिक शक्ति कहाँ तक सत्य है, परन्तु इतना अवश्य सत्य है कि कुष्ठ रोग मे यह बहुत प्रभावकारी होती है।

ममीरी भी हमने देखी। उसका सुरमा बनता है। सालम मिश्री से अनेक औषधियाँ तैयार होती है। नागबला भी एक औषधि है। सहसा स्वामी जी बोले, "अजवायन को तो आप जानते ही है, लेकिन इसका यह घास जैसा पौधा शायद ही कभी देखा हो। यह छोटा-सा बैंगनी फूल कितना सुन्दर मालूम होता है!"

सचमुच वह शिशु-पुष्प अत्यन्त प्यारा लग रहा था। उसकी सुगध बहुत दूर तक हमारे साथ रही। हमने अतीश का पौधा भी देखा और देखी गंगा-तुलसी, जिसे इस प्रदेश मे छाँवर कहा जाता है। इसका उपयोग पूजा में होता है। आर्चा-पार्चा को जाते समय देख चुके थे, इसलिए पहचानने में कोई कठिनाई नही हुई। स्वामीजी बोले, "वह देखो, वह छोरा है। एक सुगधित मसाला।"

1. 8 जून, 1958

मैंने पूछा, "क्या यह चोर ही तो नहीं है? 1950 में बद्रीनाथ यात्रा से लौटते समय मैं इसे ले गया था। जिस दिन दिल्ली पहुँचा, उस दिन दशहरा था। उड़द की दाल बनी थी। उसमें डालने पर दाल बहुत ही स्वादिष्ट हो उठी।"

स्वामी जी बोले, "हाँ, यह वही है, बस नाम बदल गया है और यह देखो, यह पांगरी है और यह है जाड़पालंग। पांगरी के लम्बे पत्ते की भाजी बड़ी अच्छी बनती है। यह है लाडू, इसकी भी भाजी बनती है, लेकिन इसमें लहसुन की-सी गंध आती है।"

एक और सब्जी हमने देखी, जो बन्द गोभी की तरह थी। लेकिन इनके प्रयोग में बड़ा सावधान रहना पड़ता है। वहीं पर कुछ ऐसे पौधे भी होते हैं, जिनमें तीव्र विष होता है। खाते ही तत्काल मृत्यु हो जाती है। फलों के वृक्ष भी वहाँ थे। जैसे पापामोल और फलौदा। बादाम की तरह एक मेवा होती है, जिसे कहते हैं सिरोर। इस प्रकार नाना कदमूल-फलों से यह वन-प्रदेश भरा पड़ा है। सारे मार्ग पर जंगली गुलाब यहाँ-वहाँ उग आये हैं, जिनकी सुगंध यात्री को स्फूर्ति से भरती रहती है। महान चरक ने ऐसे ही स्थानों से अमूल्य और आरोग्यप्रद बूटियाँ छाँट निकाली थीं। 1300 वर्ष पूर्व चीन के महान यात्री ह्यूनसाँग ने हिमवान की इन अद्भुत जड़ी-बूटियों की चर्चा की है, लेकिन दुख यही है कि आज जो इस विज्ञान के सहारे जीवनयापन करते हैं, वे नये-नये प्रयोग करके नहीं देखते। जो कुछ प्राचीन पुस्तकों में लिखा है, उसी को 'बाबा वाक्यम् प्रमाणम्' के अनुसार मानकर जैसे-तैसे अपना काम चलाते हैं।

बादल आकाश के विस्तार को घेरते आ रहे थे। कभी-कभी मन आतंकित हो उठता था। आधा मार्ग पार करते-न करते वह प्रदेश कुहरे के आँचल में छिपने लगा। देवघाट के समीप पहुँच कर स्वामी जी बोले, "आओ, उस पार चलें। वहाँ का मार्ग सरल है।"

मैंने कहा, "लेकिन भागीरथी को पार कैसे करेंगे?"

स्वामी जी बोले, "गादी लोग अपनी भेड़-बकरियों को लेकर इन प्रदेशों में आते हैं। वे लोग अस्थायी पुल बना लेते हैं। वैसा ही एक पुल सामने है।"

दृष्टि उठा कर देखा, भागीरथी के दोनों तटों को मिलाते हुए वृक्षों के दो लम्बे तने पड़े हुए हैं। यही पुल है। इस पर से भागीरथी को पार करना पड़ता है। तनिक पैर डगमगाया तो वेगवती धारा में प्राणों का विसर्जन ही करना होगा। लेकिन स्वामी जी पूर्णतः शान्त थे। बोले, "चिन्ता न कीजिए। हम उस पार अवश्य जायेंगे।"

यह कहकर वह तत्काल उस कम्पित पुल पर से गुजरते हुए उस पार पहुँच गये। वृक्ष का एक और लम्बा तना वहाँ पड़ा था। [illegible] और [illegible] की सहायता से उस तने को [illegible] दिया। [illegible]

आप निःसंकोच आ जाइये।"

मन अब भी आतंकित था। तने आखिर कच्ची मिट्टी पर ही तो रखे थे। किसी भी क्षण डगमगा कर जलमग्न हो सकते थे। फिर हमारी सुधि लेने वाला कौन रहेगा? लेकिन पार भी जाना है, इसलिए बारी-बारी चौपायों की तरह उस पुल पर से भागीरथी को पार करने लगे। क्षण-क्षण ऐसा लगता था कि पैर डगमगाया और इस तीव्र प्रवाह मे विसर्जन हुआ। लेकिन जब सब सकुशल उस पार पहुँच गये तो गर्व से भर कर पहले किनारे की ओर देखा। फिर उस पुल को देखा और ऐसा अनुभव किया मानो एवरेस्ट पर विजय प्राप्त की हो। इस विजय का नशा इतना तीव्र था कि कुछ ही दूर पर देवगंगा की क्षीणकाय धारा मे यशपाल जैसे कुशल आरोही रपट पड़े। जिस पत्थर का उन्होंने सहारा लिया था, वह धोखा दे गया। वह धारा मे गिर पड़े। चोट लगी, कपड़े भीगे, बहुमूल्य कैमरे मे भी पानी भर गया। लेकिन सौभाग्य से घड़ी और चश्मा बच गये। माधव ने तुरन्त लपक कर कैमरा उठा लिया। उनकी वह फिल्म बच गयी, जिसमे गोमुख के चित्र थे।

लेकिन केवल यशपाल ही नही गिरे थे। कुछ क्षण पहले एक गहरे ढलान पर से उतरते समय मैं भी फिसल गया था। गिरने से बचने के लिए जब मैंने बायें हाथ का प्रयोग किया तो वह बुरी तरह कट गया। इसी ढलान पर से उतरते हुए श्रीप्रभा बाल-बाल बची। स्वामी जी ने बाँह पकड़ कर उतरने मे सहारा दिया। बीच मे था एक पत्थर, उस पर जैसे ही स्वामी जी ने पैर रखा कि वह फिसल गया और उसके तथा पहाड़ के बीच मे श्रीप्रभा का पैर आ गया। वह चीख उठी। उस क्षण स्वामी जी ने जोर से पैर मारकर उस पत्थर को नीचे फेंकने का प्रयत्न किया। इस प्रयास में ऐसा लगा कि उनका दूसरा पैर ढलान पर टिका न रहेगा और श्रीप्रभा के साथ-साथ वह भागीरथी के तीव्र जल-प्रवाह मे जा गिरेंगे। लेकिन स्वामी जी ठहरे मँजे हुए खिलाड़ी। एक क्षण हवा मे तैरते हुए खड़े रहे और वह भीमकाय पाषाण-खण्ड लुढ़क कर गंगा के गर्भ मे समा गया। स्वामी जी सानन्द श्रीप्रभा के साथ नीचे पहुँच गये।

हम लोग इस ओर इसलिए आये थे कि मार्ग सरल है, लेकिन जो मार्ग मिला वह साँपनाथ के भाई नागनाथ जैसा ही है। मार्गदर्शक भी दुविधा में पड़ जाता। नितांत कटा-फटा, डरावना। कभी ऊपर आकाश मे चलते, कभी पाताल में उतरते। कभी वृक्षों की घनी शाखाओं मे उलझते, कभी नितान्त संकीर्ण रपटती पगडंडी पर काँपते प्राणों से आरोहण करते, कभी विशालकाय पत्थरों को पकड़ते-पकड़ते आगे बढ़ते। क्लांत, त्रस्त, किसी प्रकार बाबा गंगादत्त फलाहारी की कुटिया पर पहुँच सके। माधव बिना रुके आगे बढ़ गया। शीघ्र-से-शीघ्र माँ के पास पहुँच जाने की उसकी इच्छा स्वाभाविक है। प्यास के कारण मेरा कण्ठ

सूख रहा था, लेकिन आज मेरे साथ हैं सतीशचन्द्र। सचमुच पर्यटक है और संगीत-प्रिय भी। उनके साथ ही ऊपर चढ कर हम बाबाजी की कुटिया मे पहुँचे। वह ब्रजवासी है। केवल फल ही उनका भोजन है। एक चबूतरे पर चट्टान झुक आयी है, उसी की आड में एक छोटा-सा लकड़ी के शिखर का कच्चा मन्दिर बना है। बाबा गगादत्त यही पर बैठे सदा राम-लखन की जोडी को निहारा करते है। उनका यह ठाकुर-द्वार खूब सजा हुआ है। बड़े प्रेम से उन्होने हमारा स्वागत किया। बरामदे मे बैठ कर हम लोग बातें करने लगे। शेष साथी भी धीरे-धीरे आ पहुँचे। सहसा बाबाजी बोले, "आप लोग विद्वान है, अँग्रेज़ी भी खूब जानते होगे। मैं एक अँग्रेजी कविता पढ़ता हूं, उसका ठीक अर्थ आप समझा दीजिये।"

हम लोग एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। बाबाजी अँग्रेजी कविता जानते है, देखने से तो ऐसा नही लगता। लेकिन इस प्रदेश मे एक-से-एक बढ़कर अद्‌भुत व्यक्ति मिलते हैं। न जाने कौन-सी कविता पढेंगे? मैंने कहा, "हमारे दल मे घोरपडे सबसे अधिक अँग्रेजी जानते है। वह शायद आपकी कविता का अर्थ बता सकें।"

घोरपडे बोले, "मैं भी बहुत तो नही जानता, लेकिन हाँ, सब मिलाकर उसका अर्थ करने का प्रयत्न करेंगे।"

उत्सुकतापूर्वक हम सब बाबा की ओर देखने लगे, लेकिन जब उन्होंने कविता पढी तो सहसा हँसी आ गयी। बहुत पहले श्री राधेश्याम कथावाचक ने एक प्रार्थना कई भाषाओ मे लिखी थी। वही उन्होंने पढी। उनका उच्चारण बड़ा विचित्र था। कहूँगा, अशुद्ध था। वह 'आर्ट' को 'आर्ड' और 'लार्ड' को 'लार्ट' बोलते थे। जैसे 'दाऊ आर्ट माई लार्ड' को उन्होंने पढ़ा—'दाऊ आर्ड माई लार्ट।' इसका अर्थ करना भी क्या कोई कठिन काम था!

बाबा ने हमको जो फलों का कसार प्रसाद के रूप मे दिया वह बहुत स्वादिष्ट था। पानी पिलाने के लिए वह स्वयं नीचे आये। वह सचमुच सरल स्वभाव के प्रेमी जीव है, जैसे वैष्णव सत हुआ करते हैं। प्रायः यही रहते हैं। लगभग बीस वर्ष पूर्व यह मंदिर बनाया था उन्होंने, तब से उसी की पूजा करते आ रहे हैं। इस गुहा का नाम कनकू बडार अर्थात् कनकगिरि गुहा है।

फलाहार के नाम पर अधिकतर आलू ही मिलते है, लेकिन रामदाना (जिसे चौलाई या मारचा भी कहते है), छाबरा, छेमी (अर्थात् राजमा) आदि भी भक्त लोग कभी-कभी भेट कर जाते है। एक बार भक्त लोग फलाहारी दाने और आलू भेजना भूल गये। बर्फ़ गिरने लगी। उपवास के अतिरिक्त और कोई मार्ग नही था। उस समय दो घड़े गगाजल भरकर उन्होंने अपने पास रख लिये और 'रघुपति राघव राजाराम' रटने लगे। वह गंगोत्री जा सकते थे। लेकिन भोजन के लिए प्रतिज्ञा तोड़ना उन्होंने स्वीकार नही किया। इसी समय सहसा गंगोत्री में दयाल मुनि को याद आयी कि इस बार बाबा के पास भोजन के लिए कुछ नही

और इन भव्य शिखरों को देखो।" श्वेत केशधारी अन्तर्मुखी मुनिगण जैसे ब्रह्म की आराधना में लीन हों। मन में होता है कि उड़ कर पहुँच जाऊँ इन स्वर्ग शिखरों पर और फिर देखूँ नीचे के अनन्त विस्तार को और पुकारूँ, पिछली बार की तरह, वेटोस्लैव रोरिक के स्वर में :

"हिमवान ओ सुन्दर, तू हमें अद्वितीय निधियाँ प्रदान करता रहा है और तू हमेशा के लिए प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों का, पृथ्वी और आकाश के सम्मेलन का प्रहरी बना रहेगा।"

मार्ग कहीं-कहीं टूट गया है। मैं सुशीला को चेतावनी देता हूँ। एक-दो बार सुन लेती है। तीसरी बार उत्तर देती है, "अगर इस बार आपने सावधान किया तो जरूर गिर जाऊँगी। मुझे अपना पथ स्वयं देखने दीजिये।"

मैं उसे मुक्ति देकर पीछे-पीछे चलता हूँ, सोचता हुआ कि क्या हम प्रकृति से समझौता कर सकेंगे या उसे जीतने का ही स्वप्न देखते रहेंगे!

हम दोनों धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाते हैं। बहुत नीचे जो भागीरथी जा रही है, उसे प्रथम बार सूर्य के मुक्त प्रकाश में प्रवेश करते देखने की चाह हमें थकने नहीं देती। थकने नहीं देती वे हिम-सरिताएँ जो उतनी ही उतावली हैं भागीरथी में लय हो जाने को। कवि जगूड़ी को इन छोटी सरिताओं से बड़ा स्नेह है। पहाड़ अगर पिता है तो उसकी बड़ी बेटियाँ सारे मुल्क के साथ ब्याह दी गयी हैं, जबकि छोटी बेटियों का रास्ता पिता के चेहरे की एक-एक झुर्री से होकर है।[1] वातावरण का विराट मौन, विमल-विस्तृत शान्त आकाश, मन को एक सुखद अनुभूति से भर देता है। लक्ष्मी वन, अघमर्दिनी गुहा, जी करता है कि देखता रहूँ दूर पर्वतों पर उन चीड़ के हरे-भरे वृक्षों को, ढलानों पर उछलते-विहँसते निर्झरों को, आकाश में घिरते आते मेघ-शावकों को। कभी किरणें हँस पड़ती हैं तो कभी आकाश उदास होकर मन को एक विषाद से भर देता है। और कभी तुलसी, कभी तपोगंगा अजवायन की महक हमें पुलकित कर देती है। स्वामी जी फिर पास आ गये हैं और कह रहे हैं, "उधर दाहिनी ओर से नीचे उतरना है।"

वृक्षों से आच्छादित विशाल पत्थरों के बीच से होता हुआ एक वन-मार्ग हमें भागीरथी के तट की ओर ले चलता है। दो क्षण बाद हम दूर से ही निर्माण विभाग के डाक-बँगले को देखते हैं। समुद्र-तल से लगभग 12,000 फीट ऊपर, उत्तुंग हिमशिखरों की छाया में एक विस्तृत समतल मैदान और उसके बीच में भोज-वृक्षों से घिरा वह डाक-बँगला हमें आह्लादित कर देता है। इस समय उसके दोनों कमरे पर्वतारोही संस्थान के सामान से भरे हैं। कोई सहायक नहीं है। उनके भारवाहक रुकते नहीं, चले जाते हैं। हम स्वयं उसे व्यवस्थित करके

1 घबराये हुए शब्द, पृ० 68

अपने लिए स्थान बना लेते हैं। काठ का फर्श है। द्वार ठीक है। फिर चिन्ता कैसी? बारह वर्ष पूर्व उस पार की धर्मशाला में शीत और हवा को दूर रखने के लिए क्या-क्या नहीं करना पड़ा था हमें! अपनी ही पुस्तक में अपने ही लिखे को पढ़ता हूँ और चकित रह जाता हूँ...।

बाहर वर्षा होने लगी है। हमारे भारवाहक अभी-अभी आये हैं। चाय पीकर सब लोग शंकित मन और थके बदन बिस्तरों की शरण लेते हैं। मैं डायरी लिखता हूँ। वर्षा और तेज़ होती है। वातावरण एक गहरे, उदास और ठंडे अंधकार से भरने लगता है। आशा-निराशा का द्वन्द्व-जाल हमें घेर लेता है, लेकिन प्रकृति तो ठहरी छलिया। पाँच बजते-न बजते वर्षा शान्त हो जाती है। हम लोग किलकते हुए उस विस्तृत समतल मैदान में निकल पड़ते हैं। बड़ा सुन्दर लग रहा है वह, नहाया-नहाया-सा और वे लता-गुल्म और वे वृक्ष, कैसा निखर आया है उनका रूप! हिमशिखर मेघों से घिरे हुए हैं। कुछ गायें न जाने कहाँ से आकर वृक्षों के नीचे सिमट गयी हैं। सहसा एक चिड़िया का स्वर हमें उत्फुल्ल कर देता है। दृष्टि उठाकर देखता हूँ, उस विराट मौन में वह श्वेत-श्याम चिड़िया कैसी प्यारी लगती है। कितना मधुर है उसका स्वर। मैं दौड़ता हुआ युग-युग से बहती चली आ रही भागीरथी के तट पर जाता हूँ और आचमन करता हूँ। मानो उस रहस्यमय अज्ञात के प्रति कृतज्ञता प्रगट करता हूँ। वन-प्रान्तर में घूमना कितना आह्लादकारी होता है!

"वह उस पार तो देखो!" स्वामीजी कहते हैं, "वह भृगु पथ है और वह है मन्दा शिखर।"

"ठीक आपके चित्र में वैसा ही है," मैं कहता हूँ। तभी डूबते सूर्य की किरणों ने उसका भाल चूम लिया मानो रंगों के जादूगर ने रंग बिखेर दिये हों, अल्टावायलेट रेज़ में नहा उठा वह शिखर।

फिर होता है भोजन का प्रबंध। सब-कुछ साथ है। बस गरम करना है। फिर घिरती आती है निर्जन की रात्रि। अंधकार की छाया शिखरों से उतरकर उपत्यका को ग्रस लेती है। मोमबत्ती न जाने कहाँ रह गयी! एक छोटा-सा टुकड़ा है जो कुछ देर जल कर शान्त हो जाता है। ठंडा अंधकार हमें लील लेता है। मेरी बायीं ओर अतुल है। उसके हाथ की सूजन बढ़ रही है। संस्थान के डॉक्टर की दवा विफल हो गयी, लेकिन विफल नहीं होता यात्रा पर आगे बढ़ने का उत्साह। दाहिनी ओर पत्नी है, जिसने जीवन में पहली बार ऐसे भयानक मार्ग पर यात्रा की है। शरीर थक गया है, लेकिन मन में तो देवी पार्वती बैठी है। इसलिए उत्साह का कोई अन्त नहीं है। उसके दाहिनी ओर कलाकार रामगुप्त लेटे हैं, जिनकी युवकोचित अल्हड़ बातों का कोई पार नहीं पा सकता और नीचे पैरों की ओर अपने स्लीपिंग बैग में सोये हुए हैं हमारे आतिथेय स्वामी सुंदरानंद,

हिमवान के सच्चे प्रतिनिधि। कैसी निस्तब्धता है कि दूर गुफाओं में बैठे भार-वाहकों का स्वर संगीत-सा कानों में गूँज रहा है और भोज-पत्रों के जलने से पैदा हुआ तीव्र प्रकाश रह-रहकर झरोखों में से झाँक जाता है। ऐसा लगता है मानो हम किसी परिलोक में हों। सहसा सुशीला मुझे आलिंगन में ले लेती है। भाव-विभोर अस्फुट स्वर से कहता हूँ, "क्या करती हो?"

वैसे ही भाव-विभोर वह बोलती है, "जो शंकर-पार्वती करते थे।"

मैं आश्वस्त हुआ कि जीवट है उसमें, नहीं तो इस ऊँचाई पर...!

पिछली बार की झंझा और इस बार की शांति की बात सोचते-सोचते न जाने कब सो जाता हूँ। कितने पन्ने रंग डाले थे मैंने उस रोमांचित कर देने वाली भयानक स्थिति का वर्णन करने में।

आशा-निराशा के द्वन्द्व में झूलते हुए रात बीत जाती है। सवेरे[1] दृष्टि बार-बार आकाश की ओर उठती है। प्रकाश का निर्माता सूर्य कहीं नहीं दिखाई देता। कभी-कभी आँखमिचौनी खेलते मेघशावक कहीं छिप जाते हैं। कहीं से झाँक कर सूरज की किरण शिखर से चिपट जाती है तो जैसे सोना गल जाता है। उस पार मनोहारी मंदाशिखर मन को एक रहस्यमय आह्लाद से भर देता है, लेकिन दूसरे ही क्षण वे शावक विराट रूप धारण करके प्रकाश को ग्रस लेते हैं। लेकिन हम लोग पराजय स्वीकार नहीं कर सकते। मन चिंतित है, पर कदम आगे बढ़ते चलते हैं। यहाँ से मार्ग और भी भयानक हो उठा है। कहीं-कहीं तो जैसे पहाड़ से चिपका हुआ है। मात्र एक पैर रखा जा सकता है। ऊपर देखता हूँ तो असंख्य कुतुबमीनारें अधर में लटकती हुई दिखाई देती हैं। किसी भी क्षण वे हमें अपने में समेटती हुई गंगा के गर्भ में समा सकती हैं...।

वर्षा बढ़ती जा रही है, मेघ हमें भी घेरने के लिए आ पहुँचे हैं, लेकिन मेरी दृष्टि उस पार धर्मशाला पर जा अटकी है। बारह वर्ष पूर्व ठिठुरते जाड़े में दो रात्रियाँ हमने यहीं पर तो बितायी थीं। याद आता है तभी इसी ओर बरड़ों (संस्कृत—भरल : भेड़ जैसे हिरन) का एक दल देखा था, पर इस बार बस तुत-रायल के दर्शन हो सके। बयाग-चू भी नहीं है। पर कल वाली श्वेत-श्याम चिड़िया का संगीत विराट मौन को माधुर्य से भर देता है।

कामदग्ध प्रेमियों को अभिसार के लिए प्रकाश देने वाली जड़ी भी कहीं नहीं देख सके। न देख सके किरणों का वितान और पानी पर धूप-सा चमकने वाला हिम। पर भृगु नदी है और वैतरणी भी है। उसे पार कर हम देवलोक में पहुँच गये थे। देवलोक के बाद है पुण्यवासा, पर हम इस ओर पुण्यों को नहीं देख पाते।

---

1. 24 सितम्बर, 1970

आकाश भी तो कुपित होना आ रहा है। अभी कुछ क्षण पूर्व भागीरथ शिखर की गरिमा हमें आह्लाद मे भर रही थी, लेकिन अब श्वेत अंधकार ने ग्रस लिया है उसे। पर हम आगे, और आगे बढे जा रहे हैं, वर्षा हुए जा रही है। एक नदी का पुल पार करके अनन्त मुक्त बोलडरों के विस्तार के बीच आ जाते है हम। कभी नीचे उतरते, कभी ऊपर चढ़ते। उस विराट वीराने मे न मार्ग बताने को कोई आदमी था, न सिर छिपाने को कोई छत—पत्थर ही पत्थर, पानी ही पानी और उन सब को घेरे अथाह सफेद अँधेरा। न पहाड़ दिखाई देते थे, न गगा। कहाँ राजसी दिल्ली का वह चीखता-चिल्लाता हाहाकार और कहाँ यह विराट गहन मौन ! दोनों ही सत्य हैं। मील का पत्थर बताता है, गोमुख केवल दो किलोमीटर रह गया है। स्वामी जी सहसा पुकार उठते है, "वह देखो, वह है गोमुख।"

श्वेत अधकार के उस पार गगा-हिमानी का वह मुख हमे आह्लाद से भर देता है, लेकिन मार्ग का यह अतिम छोर ही सबसे दूभर हो उठता है। उस पर वर्षा भी तेज हो जाती है, लेकिन किसी तरह गोल पत्थरों के बीच से मार्ग बनाते हुए, कई मोड़ो पर मुड़ते, कई उतार-चढाव पार करते हम हिमानी के पास पहुँच ही जाते हैं, यद्यपि अन्तर और बाह्य दोनों कांप रहे है, लेकिन मजिल पर पहुँचने का सुख भी कम अनिर्वचनीय नही है। इस स्निग्ध-शांत, पर भयावह वातावरण और भीगे तन-मन के बावजूद, हम हर्ष से पुलक-पुलक उठते हैं, स्तब्ध हो रहते हैं। स्वामी जी बता रहे हैं, "बारह वर्ष पूर्व जहाँ आपने गोमुख देखा था, वहाँ से वह अब दो फर्लांग दूर हट गया है।"

सोचता हूँ, क्या भागीरथी का वास्तविक उद्‌गम यही है ? 16 मील[1] लम्बी यह हिमानी चौखम्बा शिखर से आरम्भ हो कर यहाँ समाप्त होती है। पिघलते-पिघलते क्या यह एक दिन बिलकुल समाप्त हो जायेगी ? क्या उसी दिन भागीरथी का सच्चा उद्‌गम प्रगट नही होगा ? लेकिन जाने दें भविष्य की बात। आज तो यही गोमुख है। लेकिन इसका रूप भी तो पलट गया है। आज मै दो गुफाएँ देखता हूँ, विस्तार भी बढ गया है। वह मात्र एक क्षीण धारा नही है, भीषण नाद करती हुई उद्दाम यौवना गगा है। आज का यह वातावरण उसे और भी भयावह बना देता है। सारा विस्तार ठडे कुहर से आच्छादित है। उसके भीतर से ही जैसे प्रचण्ड नाद गूँज रहा हो। क्या प्रकृति मत्र-पाठ नही कर रही ?

स्वामी जी सदा की तरह उत्साह से पूर्ण हैं। वे मेरी पत्नी को छोटी गुफा के द्वार तक खीच ले जाते हैं। कांपते-ठिठुरते हम भी पीछे चलते हैं। सहसा एक विशालकाय पत्थर तीव्र ध्वनि करता हुआ अतुल के ठीक पास आकर गिरता है। जैसे विद्युत कौंधती है, कुछ भी अघटित घट सकता है यहाँ।

1. निश्चित कुछ नही है। कही बीस मील, कही सोलह मील का विस्तार बताया है। निरन्तर घटता जा रहा है यह विस्तार।

लेकिन मैं सोच पाता इससे पूर्व हमारा दुबला-पतला कुली बड़ी तेजी से पत्थरों को लांघता हुआ छोटी धारा के पास पहुँच जाता है और कपड़े उतार कर नहाने लगता है। बारह वर्ष पूर्व मैंने भी इसी प्रकार स्नान किया था और स्वामी जी के साथ उस पारदर्शी हिमानी की गुफा मे अन्दर तक चला गया था। आज मेरे अन्तर मे उतना साहस नही है। उस दिन हिम-शिखर उज्ज्वल धूप मे चमक रहे थे, आज वे ही मेघों से घिर कर भय पैदा कर रहे हैं। यौवन और प्रौढ़ता क्या यही नहीं है? मैं भी छियालीस वर्ष का था तब, अब अट्ठावन का हूँ।

भागीरथी की अजस्र वेगवती धारा के बीच पत्थरों पर खड़े होकर हम प्रकृति की लीला को देखते हैं। भय को जीत कर सुशीला पूजा की व्यवस्था करती है। स्वामी जी भागीरथी स्तवन का पाठ करते हैं :

गंगे ! भवत् पूत विशाल धारा।
भावत्कविर्घं ति ममप्रभाति
गृहणन्तु सर्वेपि यथेच्छ मेतां
छिन्दन्तु तृष्णां त्वयि कस्य रोधः॥

पूजा के बाद वे छवि उतारते हैं। सब कुछ कुहर मे छिप गया है। यह ठंडा कुहर, यह अनवरत कलकल ध्वनि और इस विराट निर्जन में हम आठ प्राणी, सकपकाते-सिकुडते, इस पवित्र निरानन्द-निर्जन मे मंत्रध्वनि वर्षा के संगीत मे लय होकर मन को कैसा सुख पहुँचाती है! उस 'कैसे' को शब्द देने योग्य भाषा अभी मनुष्य को नही मिली है।

हम सिर छुपाने के लिए किसी स्थान की खोज मे व्यस्त हो उठते हैं। जाते हुए स्वामी जी ने एक गुफा देखी थी। उसी के पास पहुँच गये है। सिर सीधा करके उसमे बैठा नहीं जा सकता, लेकिन हम आठो प्राणी उसमे समा जाते हैं। अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। इस हिम-प्रदेश मे यह शीघ्र प्रज्ज्वलित हो जाने वाली अग्नि ही सबसे बडा सम्बल है। धुआँ घुटता है। नेत्र कड़वे जल से ओत-प्रोत हैं। होने दो। पानी से तर हम अपने वस्त्रों को सुखाने का विफल प्रयत्न करते हैं। स्वामीजी मेरी पत्नी और भारवाहकों की सहायता से साथ मे लाया भोजन गरम करते हैं, चाय बनाते है। सवेरे की तरह गरम-गरम हलवा, कस्तूरी बटी, बातों का क्रम निरन्तर चलता रहता है। कैसा आनन्द है इस अपूर्व वनभोज मे! किसी राज-महल में हीटर के सामने कालीन पर लेटे-लेटे मेवा खाने से भी बढ़ कर अपूर्व। एक घंटा न जाने कब समाप्त हो जाता है। अब हमें लौट चलना चाहिए। किसी भी क्षण वर्षा और तेज हो सकती है। हिमपात भी हो सकता है।

स्वामी जी अभी व्यवस्था में व्यस्त है और हम धीरे-धीरे उस रिमझिम में लौट पड़ते है नीचे की ओर। ऊपर जाते समय जो सँकरा मार्ग भय उत्पन्न कर

रहा था अब वही आनन्द से भरने लगता है, क्योंकि अब हर कदम घर की ओर बढ़ रहा है। मील पर मील पीछे छूट जाते है। एक अनिर्वचनीय सुख हमे जकड़ता आता है। तब न तो शीत और न जल हमें आतंकित करता है। बस क्षण-भर पहले के दृश्य की अनुभूति, अपने वास्तविक रूप में, अन्तर को जाग्रत कर देती है। बारह वर्ष पूर्व की तरह आज भी ब्रह्मानन्द सरोवर की सत्ता मेरे मानस-पटल पर रेखांकित हो उठती है :

निराकार एकान्त व्याप्त था मेरे चहुँ दिशि।
सब कुछ था बन गया अनोखा और अनामी॥
एकाकी, अज, विश्वातीत, एक सत्ता थी।
शिखरहीन, तलहीन, सदा के लिए स्थाणु॥

सहसा देखता हूँ, डाक-बँगले के प्रांगण मे रंग-बिरंगे टैंट लगे है। संस्थान के विद्यार्थी प्रशिक्षण के लिए आ गये हैं। हम लोग जैसे ही वहाँ पहुँचते हैं वे मुक्त हृदय से हमारा स्वागत करते है। व्यस्त हो उठते है हमें सुख-सुविधा पहुँचाने को। सौम्य-दर्शन, मिष्ठ-भाषी कैप्टन पचौरी मेरी पत्नी के लिए रूई का कोट ले आते हैं। मुझे भी गर्म जुराबें देते हैं। लगता है जैसे एक भयानक और साथ ही एक मनोरम स्वप्न का अंत हो गया है। उसकी सुखद अनुभूति हमारे पोर-पोर को जकड़े हुए है। श्रद्धा मे कितनी असीम शक्ति है! देर तक बातें करते हम आग को घेरे बैठे रहते है, मुक्त आकाश के नीचे। हमे अब कुछ नही करना है। खाना भी संस्थान के लोगों के साथ खाते हैं। विराट मौन में डूबे उस निराकार एकान्त में रोटी, दाल, साग, कॉफी और खीर और फिर प्यार से खिलाने वाला हो, स्वर्ग के देवता और क्या चाहते है? कप्तान कहते हैं, "यहाँ भी मनुष्य मनुष्य की सहायता नही करेगा तो कहाँ करेगा?"

इतने प्यारे मनुष्यों के बीच में अपने को पाकर थका और भीगा शरीर जैसे सब दुख भूल गया है। मन भी तो भीगा है न। और सब रोगो का स्रोत मन ही तो होता है। मन गद्गद है तो तन क्यों व्यथित होगा? हम लोग फिर पहली रात की तरह एक-दूसरे से सट कर सोने का प्रयत्न करते हैं। शिव और पार्वती फिर पास-पास लेटे है। मैं सब कुछ भूल कर ट्रांजिस्टर पर नाटक सुनने की चेष्टा करता हूँ। इसी प्रयत्न में नीद की देवी न जाने कब अपने आग़ोश में ले लेती है। सवेरे[1] जब आँख खुलती है तो एक सुखद स्वप्न से उठने की अनुभूति मुझे विभोर किये है। पिछली बार की यात्रा के समान इस बार भी मैं अनुभव करता हूँ जैसे—

1. 25 सितम्बर, 1970

ऊषा ने मुक्त किये हैं अन्धकार के द्वार।
किरण बिखेरता आलोक उसका,
प्रगट हो गया है सामने हमारे।
यह फैलता है और दूर भगा देता है,
तमसाकार दैत्य को।

हमें जाना है दूसरी ओर। विदा की वेला मदा की तरह भीग आती है। स्वामी जी हम सबको कैमरे में कैद कर लेते हैं। न जाने फिर मिलें या न मिलें, पर ये क्षण मनुष्य में मनुष्य की आस्था को सदा जगाये रखेंगे।

नीचे अनन्त विस्तार और ऊपर के स्वर्ग-शिखरों के बीच से जाती हुई दो फुट की पगडंडी पर धीरे-धीरे फिर आगे बढ जाते हैं, विराट की कल्पना मन में सँजोए और निर्वैयक्तिक ऐश्वर्य को देखते हुए। जाते समय उत्सुकता थी। अब सन्तोष है और गर्व भी, जैसे कोई शिखर जीत कर लौटे हों।

पिछली यात्रा में इस मार्ग के पास ही बाबा गंगादास फलाहारी का आश्रम था। उनसे मिले थे। इस बार सीधे गंगोत्री पहुँच गये। जैसे घर लौटे हों! कैसा सुख मिला पलँगों पर लेट कर! स्वामी जी की व्यवस्था में रामराज्य का आनन्द ले रहे हैं। अतुल का हाथ पूरे-का-पूरा सूज गया है। दवा असर ही नहीं कर रही। सुशीला फिर आग्रहपूर्वक स्वामी जी की रसोई मे पहुँच गयी है। उनके लिए अचार डालती है। कल तो हमें नीचे लौटना है। आज सहेज ले जो कुछ सहेजना है। यहाँ पूर्वत: सन्नाटा है। संस्थान या किसी पर्वतारोही दल के व्यक्ति दिखाई दे जाते हैं। सात-आठ यात्रियों का दल था। वह भी आज उतर गया नीचे। सोचता हूँ, कभी यहाँ आकर साहित्य सृजन का कार्य करूँ।

पर अभी तो जाने की समस्या है। मार्ग में कोई दुर्घटना हो गयी है। बस नही आ रही है। शायद जीप आ जाये...!

वर्षा बन्द हो गयी है। सामने के शिखर पर धूप चमक आयी है और श्वेत हिम चौंध पैदा कर रहा है। देवदार और चीड़ के वैभवशाली वृक्ष मन को वैभव से भरते हैं और केदार गगा का संगीत उसे शक्ति देता है।

कोई कुटीर, मन्दिर, झण्डा, एकाध कुली—बस मृत्युलोक का इतना ही प्रमाण है। मैं प्रताप के पास चला जाता हूँ। उसका उद्दाम यौवन मेरे थके तन-मन को सहला जाता है। डूबते सूरज की किरणें उसके शुभ्र श्वेत रग को लालिमा में परिवर्तित कर रही है। मैं कही गहरे में खो जाता हूँ कि एक पहाडी पास आकर नमस्कार करता है, पूछता है, "दिवाली के कितने दिन हैं, साब ?"

आदमी का स्वर फिर गूँजा कानों में। गुदगुदा गया, लेकिन वह सोच रहा है कि दिवाली आये तो मन्दिर बन्द हों और उसे नीचे जाने का अवसर मिले।

कितना विरोध है उसके, मेरे चिन्तन में। यहाँ रहूँ तो मैं भी ऐसे ही सोचने लगूँगा।

इस बार साधुओं से मिलना नहीं हो सका। बहुत कुछ वह नहीं है जो बारह वर्ष पूर्व था। मार्ग मे एक नवयुवक साधु मिले थे। मृगछाला पहने थे और धारा-प्रवाह अँग्रेज़ी बोलते थे। एक बंगाली साध्वी भी थी, पर उनकी रहस्य कथा...।

प्रकृति के इन मुक्ति तीर्थों में यह सब कैसा चक्रव्यूह है! प्रकृति साधना की शक्ति देती है तो वासना को भी उत्तेजित करती है। यहीं कामदेव भस्म हुए थे तो यहीं शिव-पार्वती ने प्रणय-केलि के मानदण्ड स्थापित किये थे।

ग्यारह वर्ष[1] बाद मैं फिर गोमुख की ओर जा रहा हूँ। मन पर न जाने कैसा भार है! शायद इसलिए कि तब पत्नी साथ थी, अब वह स्वर्गवासिनी है, शायद इसलिए भी हम हर बार सन्यासी पर भार बन जाते हैं। वह सवेरे से व्यस्त हैं। रात भी थे, पर वह सहज नहीं है। मेरे साथी अपने थैले में मेरी आवश्यक वस्तुएँ भी रख लेते हैं। स्वामी जी का आदेश है—कम-से-कम सामान लेना है। पर भारवाहक कहाँ है? रात वचन दे गया था।

हम सब असहज हो उठते हैं। उसी तनाव मे किसी तरह दस बजे रवाना हो पाते हैं। स्वामी जी सामान सहेजते हैं। जोशीजी भारवाहक को ढूंढ़ते है। आखिर दूसरा भारवाहक मिल जाता है। मिल तो रात वाला बहादुर भी जाता है। मैं कहता हूँ, "तुमने रात झूठा वायदा क्यों किया था।"

हँसा वह, "साब! एक-दो बार झूठ बोलने मे कोई बुराई नही है।"

भगवती गंगा के मंदिर के प्रागण में कह रहा है वह ये शब्द। हमारी जान पर आ बनी और उसकी अदा ठहरी। मैं जानता हूँ, बात इतनी ही नहीं है और हर बार ये बाधाएँ आती है। जैसे-जैसे श्रद्धा का स्थान व्यापार लेगा, ये और बढ़ेगी। अंध-श्रद्धा का दूसरा नाम व्यापार है, लेकिन कुछ क्षण बाद ही हमारा ध्यान इन बाधाओं से हट कर मार्ग की बाधाओं की ओर चला जाता है। सन् 1958 मे स्वामी जी अगम्य मार्गों को गम्य बनाते हुए हमें ले गये थे। सन् 1971 मे इस पार नैलंग श्रेणी की छाया में दो-तीन फुट चौडी पगडंडी बन गयी थी और अब तीन गज़ चौड़ा मार्ग है। जानता हूँ, अगली बार जीप में बैठकर निकल जाऊँगा इधर से।

चढ़ाई है, पर चौदह किलोमीटर में बँट जाने के कारण बहुत दुख नहीं देती।

---

1. 4 अक्तूबर, 1981

हिमशिखरों पर वे ही पल-पल रूप पलटते दृश्य है, पर इस बार निरंतर धूप खिली है। इस कारण सब उज्ज्वल-स्नात-सा लगता है—मन को आनन्द आलोकित करने वाला, पर भूमि पर सभ्यता निर्दयतापूर्वक आक्रमण कर रही है। वन-प्रान्तर नष्ट हो रहे है। उसी के साथ नष्ट हो रही है वनश्री और वन-संपदा। अपराधी मात्र ठेकेदार ही नहीं हैं, साधु लोगों के लोभ की भी सीमा नहीं है। चीड़वासा और भोजबासा श्री और संपदा खोकर अपनी पहचान भी खो बैठे है। 'चिपको आन्दोलन' अनिवार्य होना चाहिए यहाँ पर, इसके विपरीत यहाँ इन अगम्य प्रदेशो मे भवन बनते जा रहे है। सुविधा के लिए मूल्य चुकाना ही होगा। पवित्र स्थानो पर मास-मदिरा वर्जित है, पर यहाँ तो देश-देश के पर्वतारोही आते है। पर्वतारोहण शिक्षण सस्थान है। सब-कुछ उपलब्ध है उन्हें। शंकर के देश मे कुछ भी अनुपलब्ध क्यों रहे ? साधु के लिए नारी उपलब्ध है तो संसारी मांस-मदिरा से क्यों वंचित रहे ?

इस बार पूजा की छुट्टियो के कारण दल-के-दल बंगाली सैलानी आये हैं। ईसाई साधु-साध्वियाँ भी है। पर इन सबसे अलग एक सजग, पर सौम्य सुसंस्कृत युवती भी है हमारे साथ। पर्वतारोही है। सब-कुछ पीठ पर है उसके।

"क्या नाम है तुम्हारा ?"

"मुनमुन चटर्जी।"

"क्या करती हो ?"

"इन्कमटैक्स विभाग मे हूँ।"

"बाप रे ! यहाँ भी तुम लोग पीछा नही छोड़ोगे। कौन है तुम्हारा लक्ष्य इस निर्जन मे ? क्या पूँजीपतियों और अभिनेताओ की तरह कोई साधु...?"

हँस पडती है मुनमुन, "मै तो पर्वतारोहण संस्थान से प्रशिक्षित हूँ। कई शिखरों पर विजय पाई है मैंने। आप तपोवन जा रहे है, इसलिए साथ मे हूँ। केवल क्लर्क हूँ उस विभाग में...।"

क्लर्क कम शक्तिशाली होता है ! फाइल उसी के कब्जे में रहती है।

हँसते-हँसते मुनमुन आगे बढ़ जाती है। हम उस डाक-बँगले के पास से गुजर रहे हैं जहाँ ग्यारह वर्ष पूर्व मैंने अर्द्धांगिनी सुशीला के साथ शिव-पार्वती के रूप मे दो रातें बितायी थीं। सब-कुछ मस्तिष्क मे कौंध जाता है और कसक उठता है दिल में। दूर तक उसे देखता हुआ आगे बढता रहता हूँ। और अनुभव करता रहता हूँ, नरेश मेहता के शब्दों मे जैसे -

> "मेरे व्यक्तित्व के भोजपत्र को
> प्रिया की पुकार
> विद्युत-सा चीर गयी।"[1]

1. महाप्रस्थान, पृ० 33

मेरे साथी प्रसन्न है कि उनका दूसरा स्वप्न भी सार्थक हो रहा है। स्वास्थ्य ढीला होने के बावजूद उत्साह है उनमे। गढ़वाल एसोसिएशन के यात्री विश्राम-स्थल के नवयुवक प्रबंधक श्री अनुसूयाप्रसाद जोशी हमारे साथ है। उन्हीं की एसोसिएशन के लिए भोजवासा मे यात्री विश्राम-स्थल का निर्माण हो रहा है। वही हमारा लक्ष्य है आज। गोमुख वहाँ से केवल चार किलोमीटर है।

वहाँ पहुँचते-न पहुँचते सध्या रात की बाँहों में पिघलने लगती है और शीत अस्थि-मज्जा में प्रवेश कर जाता है। लेकिन भारवाहक का कही पता नही। बहादुर को झूठ बोलने से परहेज़ नही था, पूर्णानंद को कही..! कोढ मे खाज की तरह ठेकेदार के आदमियों ने उस निर्माणाधीन विश्राम-स्थल मे ठहरने की अनुमति देने से इंकार कर दिया। कहा, "इस भवन पर आपका अधिकार तभी होगा जब हम बनाकर आपको सौंपेंगे।"

जहाँ पहुँच कर मन स्वतः ही समाधिस्थ हो रहता है, जो नितांत एकांतता की दृष्टि से ही नही, आध्यात्मिक शुद्ध वातावरण की दृष्टि से भी अनुपम है,[1] वहाँ यह कैसा तर्क-जाल ! पर अन्ततः सद्बुद्धि लौटती है और हम अपेक्षाकृत सुरक्षित कमरे में ठंडे फ़र्श पर अधिकार जमा लेते है। तभी पता लगता है कि ठेकेदार स्वामीजी का पूर्व-परिचित है। फिर तो ठंडे तन-मन को न केवल गर्म-गर्म चाय मिलती है, बल्कि भोजन का प्रबंध भी हो जाता है। काँच-विहीन खुली खिड़कियाँ ढँक दी जाती हैं लेकिन पूर्णानंद तो अभी भी नही आता। क्या-क्या नही सोच जाते हैं हम लोग ! अधिकांश सामान माँगकर लाये है हम लोग। किसी प्रसंग मे स्वामी जी कह देते है, "चिन्ता क्यों करते हो, मेरा स्लीपिंग बैग ले जाइये।" क्या कह दिया स्वामी जी ने ? जिसके कंधों पर सवार होकर यहाँ तक पहुँचे उसके वस्त्र भी उतार लें...!

इसी ऊहापोह मे थे कि पूर्णानंद आ पहुँचा। प्राण लौटे हों जैसे। कभी उसे डाँटते, कभी विनोद करते हुए हम अपने-अपने स्लीपिंग बैगों में घुस जाते है। कैसा दृश्य है, दरवाजों से धुआँ घुट-घुट कर आ रहा है। खिड़कियाँ ठंडे कुहर को रास्ता दे रही हैं। बीच मे हम हैं, कभी उस यंत्रणा से राहत पाने के लिए बाहर के अंधकार में प्रकाश खोजते, कभी आँखो से आँसू बहाते रोटी खाते, कभी बातें करते। स्वामी तपोवनम् महाराज के शब्दों मे "ऐसे स्थान ईश्वर-कर्मी के लिए अर्थात फल की कामना किये बिना ईश्वर-पूजा का अनुष्ठान करने वाले कर्मयोगी के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हैं।" पर हम तो भोग-भूमि के निवासी है, स्लीपिंग बैग में भी करवटें बदलते रहते हैं। गरमी लगती है, स्वेटर उतार देता हूँ। यह गरमी तन में है या मन में ? कुछ है जो अच्छा नही लग रहा। तेईस वर्ष पूर्व उस

1. हिमगिरि विहार : स्वामी तपोवनम् जी, पृ० 27।

पार की खंडित धर्मशाला में भी धुआं था, पर इतना कड़वा नहीं था। भारवाहकों से झगड़ा ग्यारह वर्ष पूर्व चीड़वासा के डाक-बँगले में भी हुआ था पर...।

सोना चाहता हूँ। दूर से रात के काले सन्नाटे को चीरती आती भागीरथी की कल-कल ध्वनि सम-रस करती है। अभी मुनमुन मिली थी। वह पड़ोस में स्वामी लालबिहारी के आश्रम में ठहरी है। छोटे-छोटे प्रकोष्ठ हैं वहाँ। उनमें ठहर जाते हैं गोमुख के यात्री। नियत समय पर चाय-भोजन का प्रबंध है। इस दुर्गम निर्जन में इन्द्रलोक से कम महत्व नहीं है इस आश्रम का। लेकिन यहाँ भी बहुत कुछ प्रिय-अप्रिय सुना है इन स्वामीजी के बारे में। काश, कान न होते सुनने को! पाप का नाश, मन की शुद्धि इसी तरह होती है क्या? जो स्थान ईश्वर पर दृढ विश्वास करने वाला माना जाता है वही यह अविश्वास क्यों? क्योंकि कहीं कुछ नहीं है, सब कुछ अपना मन है। गंगा के पवित्र जल में गंदगी देख लेता है वह और नाबदान में अमृत भी उसी को मिल जाता है...!

मन को मथता यह तर्क-जाल न जाने कब मौन हो रहता है, नींद आ जाती है।

भोर[1] में जागा तो देखा—स्वामीजी चाय को लेकर व्यस्त हैं। लज्जा आती है, पर विवश हूँ। चाय पीते-पीते एक और तूफ़ान उठता है। मन और भाराक्रांत हो आता है। बाहर निकल जाता हूँ। हाथ पर पानी पड़ते ही लगा जैसे वह सूज गया है, पर ऊपर देखता हूँ तो बूढ़े हिमशिखर धूप-स्नान कर बच्चों की तरह खिलखिला रहे हैं। वह सरल सौम्य खिलखिलाहट तन-मन दोनों को सहला जाती है। क्या है सत्य, प्रकृति का रूप-जाल या मनुष्य का द्वन्द्व-जाल? दोनों ही सत्य हैं, तभी तो द्वन्द्व है ..।

जब गोमुख की ओर बढ़ते हैं तो नौ बज चुके होते हैं। तूफ़ानों के बावजूद साथी में उत्साह है। चलने से पूर्व धूप-स्नान करते समय ख्रीस्टी-दल की विदेशी महिलाओं से भेंट हुई थी। साँसों को सहेजना जानती हैं वे, पर एक अपेक्षाकृत वृद्धा को डाक-बँगले में रुक जाना ही पड़ा। इन लोगों में प्राकृतिक सुषमा के प्रति जो आकर्षण है वह इन्हें बल देता है। उससे भी अधिक बल देता है उनका धर्म-विश्वास। प्रभु ईसा की कृपा का लाभ अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को मिले, इसलिए कहीं भी जा सकते हैं वे, जाते भी हैं। अगम्य पथों के उस पार पीड़ित-उपेक्षित लोगों के प्रति उनकी ममता का पार नहीं है। जिन्हें हमने पशु बना दिया है उन्हें मनुष्य बनाने के लिए व्याकुल रहते हैं ये लोग।

न जाने कहाँ पहुँच गया क्षण-भर में। जागा तो देखा पूर्व-परिचिता बंगाली प्रौढ़ा आज भी क्षण-क्षण रुक कर साँसों को बटोरती एकाकी आगे बढ़ रही है।

---

1 5 अक्तूबर, 1981

मन की शक्ति पैरों की गति में लय हो गयी हो जैसे। चकित हूँ उसकी आस्था पर, लेकिन कहाँ है वह पुष्पवासा का दैवी सौंदर्य जिसका वर्णन स्वामी तपोवनम् जी ने किया है :

"हमारी विश्राम-स्थली वन-कुमारी, रंग-बिरंगे मन-मोहक विचित्र पुष्पों से शोभित तथा कई तृण-लता-गुल्म आदि से मंडित होकर स्वर्गीय सुषमा धारण किये थी। गोमुख के समीपवर्ती यह पहाड़ी भूमि वर्षा के दिनों में फूलों से लदी रहती है, इसीलिए वृद्धों ने इसे पुष्पवासा-सगतल का नाम दिया है।"[1]

अब तो पुलिस चौकी बन रही है यहाँ। सीमांत प्रदेश में सीमांत पुलिस अनिवार्य है। पाप-पुण्य, प्रकृति-पुष्प और पुलिस—राशि सबकी एक है, पर राशि-फल एक नहीं है। सहसा मन बोल उठता है, 'सोचना छोड़ो और सामने देखो।'

देखता हूँ 'गोमुख' है, गंगा-जननी का मुख्य द्वार। उसी क्षण तन-मन का सारा अवसाद घुल-पुछ जाता है। दो क्षण स्तब्ध-मुग्ध देखता खड़ा रहता हूँ। फिर जल्दी-जल्दी पत्थरों पर पैर रखता हुआ जल का स्पर्श करता हूँ। पुलक उठता हूँ। साथी गद्‌गद है। गोमुख से बाहर आ रही धारा छोटी-सी बालिका के समान कृशकाय नहीं है। विस्तृत पाट, विस्तृत गुहा-द्वार, पाँच धाराओं में बँटा हुआ जल-स्रोत, पर गति वही उद्दाम यौवना पहाड़ी बाला की। पागल-सी दौड़ी जा रही मिलने प्रियतम से, घिरी हुई कुछ दूर तक हिम की पारदर्शी दीवारों से। जल वही फेनिल-उज्ज्वल...।

तेईस वर्ष पूर्व खूब नहाया था, धूप चमकी थी कुछ क्षण के लिए। ग्यारह वर्ष पूर्व पत्नी-पुत्र के साथ आया तो मेघाच्छन्न आकाश निरंतर बरसता रहा। आज पूरे विस्तार को धूप ने आलिंगन में बाँध लिया है। फिर भी पंच-स्नानी से संतोष कर लेता हूँ। स्वामी जी स्नान के बाद गंगा स्तुति कर रहे हैं :

प्रसदि गंगे! भगवत्यभीक्ष्णं
त्वत् प्रेमयाचेऽन्यदहं न याचे
त्वदंबुधारावद खंड रूपम्
प्रसीद भूयोऽप नमोऽधिपातैः ॥[2]

स्वामी तपोवनम् जी ने बताया है—

"इस हिम गुहा के ऊपर कहीं भी गंगा के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होते। अनुमान किया जाता है कि विस्तृत हिम-संघातों से आच्छन्न उस प्रदेश में अदृश्य रूप से हिम के नीचे भागीरथी की जल-धारा बह रही है। हिम की चट्टानों के

1. हिमगिरि विहार, पृ० 264
2. श्री गंगोतरी क्षेत्र महात्म्यम, पृ० 105

पिघलने से जो छोटी-छोटी जल-धाराएँ बहती है वे सब इधर-उधर से मुख्य जल-धारा में आ मिलती है और भागीरथी जल-धारा के रूप में गोमुख से होकर बाहर प्रगट होती है। यही सर्वसम्मत गंगोत्री हिमधारा ही गंगा की प्रत्यक्ष जननी है।"[1]

गोमुख निरंतर खंडित हो रहा है। सन् 1970 मे जहाँ वह था वहाँ से एक किलोमीटर पीछे हट गया है अब। जिस गुहा में हमने शरण ली थी वहाँ अब बकर और कैंपिंग-ग्राउंड है। क्या इसी तरह एक दिन यह सोलह मील लंबी हिमानी समाप्त नही हो जायेगी और हम देख सकेंगे गंगा के वास्तविक उद्गम को—यही सोचता-सोचता मैं शिशुवत पत्थर बटोरता रहता हूँ। मुनमुन खाने के लिए खजूर ले आयी है। मीठा खाने को मन नही है, पर अन्नपूर्णा के प्रसाद को अस्वीकार करने का साहस भी मुझ मे नही है।

1 हिमगिरि विहार, पृ० 256

खण्ड चार

तपोवन

हिमशिखरों से घिरा सुरम्य समतल

लगभग ग्यारह बजे गोमुख पहुँचे थे, साढ़े बारह बजे आगे बढ गये। सारा समय घूमता ही रहा, मन नही भरा पर अंतिम लक्ष्य अभी तीन किलोमीटर दूर है। कब से स्वप्न देख रहा हूँ तपोवन पहुँचने के ! कितनी प्रशंसा सुनी है उस सुरम्य देव-वन की !

लेकिन वह जितना सुरम्य है, मार्ग उतना ही अगम्य है। निरन्तर ऊपर, और ऊपर, ऊपर-ही-ऊपर—समतल कही नही। आकाश मे जाना है तो चढना ही चढना है। मार्ग क्षत-विक्षत है, आरोहण उर्ध्वगामी, एक शिखर जीता, दूसरा सामने है। "कितनी दूर और है, स्वामीजी ?"

"बस, वही तो है, वह ऊपर वाला मोड़।"

कभी-कभी लगता कि ये पहाड पुकार रहे है मुझे। उड़कर जा बैठूँ उन पर या वे झुक कर करें नमन मेरा, पर कुछ नही होता। एक-एक कदम सघर्ष करके पहुँचना होगा मुझे, पर किसलिए ? मन के अहकार के लिए या आगे बढने की जिजीविषा के कारण...?

किसी तरह साँसों को सहेज कर वहाँ पहुँचे तो एक और मोड़ झाँक रहा था, नभ के वातायन से। पाँच मिनट चलते, पाँच मिनट साँस बटोरते, देखते परम शान्त, परम रूपवती प्रकृति नटी की अनुपम लीला को, पर्वत-मालाओं को—"नभ के नील पटल पर पृथ्वी सूक्त लिख रही हो जैसे।"[1] शिवलिंग, रक्तवर्णा हिमानी, *नन्दन वन, भागीरथ शिखर एक-दो-तीन-चार,* मेरु, सुमेरु, *त्रिशूल.. स्वामीजी*[2] बताते नही थकते।

कैसे अगम्य भयावह पथ पार किये उस दिन ! एक किलोमीटर निरन्तर गगा-हिमानी पर चले। मार्ग सम-असम प्रस्तर-खण्डो से, बजरी से पटा पड़ा था। पग-पग पर दरारें थीं जिनसे होकर मार्ग सीधा यमपुर जाता था। एक स्थान पर दो भयकर छिद्रो के बीच मे, एक पैर रखने जितनी हिम की दीवार खड़ी थी। दोनों ओर पैर लटका कर बच्चों की तरह फुदकते हुए उसे पार किया हमने।

1. महाप्रस्थान . नरेश मेहता, पृ० 27
2. सुप्रसिद्ध पर्वतारोही और छविकार स्वामी सुन्दरानंद।

मृत्यु को पास से देखो, कितना आकर्षण है उसमें ! भय आसपास भी नहीं रहता।

दिन के दो बज रहे है, पूरे विस्तार पर धूप का आधिपत्य है, पर क्षीणकाय चन्द्रमा अभी से आ बैठे है भागीरथ शिखर पर। शृंगार पूरा नही हुआ अभी। इसीलिए रूप कुछ अरूप है...।

बस वही तो है सीधा मार्ग, वही से दक्षिण को ओर मुड़िये और सामने होगा सुरम्य सुरभित तपोवन। पौने तीन बजे हमने उसे देखा। जीवन की एक और साध पूरी हो गयी। मन के उल्लास ने थके तन को सहला दिया। कैसे शब्द दूँ उस अनुभूति को ! तपोवनम् महाराज के शब्दों में कहूँ,"हिम-सघात-पूरित और श्वेत पर्वत पंक्तियों से परिवृत यह प्रदेश यद्यपि अत्यन्त दुष्प्राप्य है—तथापि किस में ऐसी सामर्थ्य है कि उस दिव्य रमणीय अलौकिक सुन्दरता का वर्णन कर सके...मेरु हिम-धारा और गंगोत्तरी हिम-धारा के बीच में गोमुख से केवल दो मील ऊपर 'तपोवन' नामक विशाल समतल विशेष रूप के मन को आकृष्ट करने वाला सुन्दर स्थान है...। कई बार वहाँ जाकर मैं उस समतल का दर्शन करता था और उस पार के शिवलिंग व भागीरथी आदि नाना रंगों से दीप्त मनोहारी पर्वतों को, दोनों ओर फैले उज्ज्वल हिम-शिखरों की पंक्तियों को, सामने उस पार नन्दन कानन को तथा बदरीनाथ के मार्ग पर प्रसिद्ध चतुरंगी जलधारा को अतृप्त मन देख-देख कर आनन्द से पुलक उठता था।"[1]

मैं भी पुलक-पुलक उठा। स्मृति-पटल पर अंकित हो गयी कवि की ये पंक्तियाँ :

> संन्यासी के मन जैसा
> कैसा प्रदेश
> यह निर्विकार सम्बन्धहीन
> है पथहीन
> पदचिह्नहीन
> जैसे हिम-भाषा में लिखित
> उपनिषद् ![2]

एक माह बाद ये पंक्तियाँ और भी सार्थक हो उठेंगी यहाँ, लेकिन सभ्यता के पैरों की आहट सुनायी देने लगी है अब। दो साधु मई और नवम्बर के बीच यहाँ आकर रहते हैं। पर्वतारोही दल यहाँ आकर शिविर लगाते है। बहुत शीघ्र सभ्यता इस सुरम्य-पावन प्रदेश के कौमार्य को नष्ट कर देगी। तीन दिन के प्रवास मे ही उस प्रभाव को बड़ी सघनता से अनुभव कर सका मैं।

1. हिमगिरि विहार, पृ॰ 53 व 276
2. महाप्रस्थान : नरेश मेहता, पृ॰ 33

स्वामी जी के पूर्व-परिचित, अद्वैत वेदान्त के उपासक, सरल-प्राण स्वामी शंकर गिरि एक गुफा मे रहते हैं यहाँ। उल्लास से भरे-भरे वही पहुँचे हम सब। बड़े प्यार से उन्होंने हमारा स्वागत किया। जी कर रहा था खूब पानी पियूँ और सो जाऊँ, पर इस रूप-लावण्य को कैसे सहेजूँगा जो सामने बिखरा पड़ा है! नाना रूप आसन बिछा कर हम बैठ जाते है। अनगढ़ चट्टानें यहाँ सोफों और मसनदो का काम देती है। गुफा में प्रवेश करने के लिए अदब से सिर झुकाना पड़ता है।

मैं एकटक हिमशिखरो को देखे जा रहा हूँ जो पास आने पर और भी दिव्य, और भी गरिमामय हो उठे हैं। शिवलिंग शिखर के ठीक चरणो में है तपोवन। उनके पीछे है मेरु, वशिष्ठ (अब त्रिशूल), खर्च कुण्ड, महालय और सुमेरु...स्वामी जी बताये जा रहे हैं और हम पिये जा रहे हैं शब्द को भी, सौंदर्य को भी...।

चार बजते-न बजते प्रकृति नटी अपने मुख पर अवगुण्ठन डाल लेती है। सूर्य त्रिशूल शिखर के पीछे जा छिपा। शीत जैसे राह देख रहा हो, तुरन्त आक्रमण कर देता है। विवश होकर गुफा में शरण लेते है हम सब। बहुत सुन्दर प्रबन्ध है भीतर। लम्बी घास के बिछावन नर्म भी है और गर्म भी। उन्हीं पर स्लीपिंग बैग डाल कर हम लेट जाते है एक-दूसरे से सटे-सटे। आगे से प्रशस्त और ऊँची छत, पीछे नीची होती चलती है। वहाँ स्वामी जी और जोशी[1] जी ने बिस्तर लगाये है। हमारे दायें भारवाहक पूर्णानन्द है। उसके बाद गुफा मे एक छोटा-सा प्रकोष्ठ है। स्वामी शंकरगिरि वही सोते है। अब उसमे मुनमुन[2] सोयेगी। गुफा मे प्रवेश करने पर दायी ओर रसोई है। दो मोटी लकड़ियाँ खड़ी करके एक द्वार बना दिया है। बिना सलाम झुकाये उसमें प्रवेश वर्जित है। मुनमुन कहती है, "अहा! कितनी सुन्दर गुड़िया की रसोई है। हम काम करेंगे। हमे अच्छा लगता है।" मुझे मुनमुन से फिर ईर्ष्या होती है।

मैं जहाँ लेटा हूँ, वहाँ से एक झरोखे द्वारा बाहर देख सकता हूँ। शिखरों पर अभी प्रकाश है। लेकिन भीतर अँधेरा-ही-अँधेरा। क्या वर्तमान यही नही है?

मुझे और मेरे साथी को छोडकर सभी रसोईघर मे हैं। भारवाहक वांछित सहयोग नही दे रहा। स्वामी जी फिर असहज हो आये है। काश मैं कुछ करने की सुबुद्धि पा सकता!

हमारी बातों का अंत नहीं है। आमोद-प्रमोद भी होता है। भारवाहक गीत सुनाता है। भोजन के स्वाद का क्या कहना! सोचता हूँ, गुहामानव के पास इतनी सुविधाएँ कहाँ रही होंगी? न स्लीपिंग बैग, न टार्च। राशन लेकर भी नही चलना पड़ता होगा उन्हे। चाय भी कहाँ पीते होगे? कन्द, मूल, फल और कच्चा

1. गगोत्री मे गढवाल गैस्ट हाउस के अधीक्षक।
2 कुमारी मुनमुन चटर्जी, एक प्रशिक्षित पर्वतारोही।

माम। एक युग के बाद भूनना सीखा होगा उसे। पत्नी-परिवार का भी झंझट नहीं, बस नर और मादा—प्रकृति की प्रकृत संतान। पशुता और प्यार में कैसे अंतर करना सीखा होगा उन्होंने? और क्या उस पशुता से मुक्ति मिल सकी है हमें सभ्यता और संस्कृति के राज्य में आज भी। लेकिन गुहा मानव क्यों? इन्ही या ऐसी ही गुहाओं मे रह कर वैदिक ऋषियों ने वैदिक वाग्मय का सृजन किया होगा। सृजन के लिए जिस एकान्त की आवश्यकता हो सकती है वही तो आज भी यहाँ सुलभ है। और उस युग के जिन कुशल इंजीनियरों ने गंगा या गंगा की सहायक नदियों के लिए नये मार्ग का निर्माण किया वे भी तो ऐसी ही गुहाओं मे रहते रहे होंगे।

आते समय देखा था कि समतल का विस्तार घास से भरा है। हवा भी चल रही है उसे सहलाती। कवि को यही देख कर याद आयी होगी 'घास की अयालों मे कंघी करती एकान्त हवाओं'[1] की। ग्रीष्म में खूब फूल खिलते हैं यहाँ। तब शिशु हिम-सरिताएँ कल-कल छलछल करती अपने ही सौंदर्य पर मुग्ध होती रहती है और आकाश से होड़ लेते हिमशिखर अपनी सुताओं के अल्हड़ मन पर हँस पड़ते है।

धुआँ है, पर डराता नही।

सारी रात गुहा मानव, वैदिक ऋषियों और अभियन्ताओं से परिचय प्राप्त करते बीती। आँख खुली[2] तो देखा स्वामी जी गुहाद्वार खोल रहे हैं। प्रकाश भर उठा। साढ़े छह बज रहे थे। हिमशिखरों पर धूप-स्नान आरम्भ हो गया था। पर हम अभागे एक घंटा और दुबके पडे रहे। पौने आठ बजे बाहर निकले तो पाया, धूप शिखरों मे नीचे उतरने लगी है पर हम से अभी भी दूर है। उसका सौंदर्य, उसका महत्व यही आँका जा सकता है। कैसी अपूर्व शान्ति है इस शीतल विस्तार मे, कैसी दिव्य आभा फैली है शिखरों पर! न जाने कहाँ से आकर एक छोटी-सी श्वेत-श्याम चिड़िया अपने संगीत से भर देती है उस मौन विस्तार को। सूर्य के अस्त होने पर जैसे कोई नन्हा-सा दिया टिमटिमा उठता हो संसार मे। परसों रात यात्री विश्राम-स्थल मे काम करते मजदूरों के ट्रांजिस्टर से उमड़ता यह फिल्मी गीत 'मैं आई, आई, आई' न जाने कितने अर्थ उजागर कर गया था मेरे मस्तिष्क मे। लेकिन इसी शान्त और पावन समतल मे अचानक वह अघटित घट गया जिसने प्रश्न-चिह्न लगा दिया आध्यात्मिक मूल्यों के सामने। वास्तव मे वह विस्फोट था दो दिन से घुटती अप्रसन्नता का। निमित्त बना भारवाहक, जबकि अपराधी मैं था। मेरे लिए ही तो था यह सब आयोजन, इसलिए विवश-विमूढ़ देखता रहा मैं संन्यासी के अंतर से उफनते-उबलते आक्रोश को। उन्हें अधिकार था, पर...।

1. महाप्रस्थान, पृ०
2. 6 अक्तूबर, 1981

अपराधी को विश्लेषण का अधिकार नही होता, लेकिन यह कहने का अधिकार अवश्य है कि उसके बाद सब-कुछ विरस हो रहा। तन भी, मन भी। वर्षों की साध पूरी होने पर उसका सुख ऐसा विषाक्त हो उठेगा, कल्पना भी नही कर सका था। कैसे झेल सका उस पीडा को! अपनी निर्लज्जता पर चकित हूँ आज भी...।

बहुत देर बाहर बैठा रहा, घुमड़ता रहा, बाहर की ठण्डी और तेज़ हवा ने जैसे मेरे अन्तर को कचोट दिया। निरभ्र नीलगगन के नीचे पूरे विस्तार पर छायी धूप भी मुझे आश्वस्त न कर सकी, पर नियति को जैसे मुझ पर दया आ गयी। 'केदारनाथ डोम' को जीत कर नीचे जा रहे दल के नेता कर्नल सूरतसिंह वहाँ आते दिखायी दिये। साथ में मेजर काले[1] भी थे। पीछे-पीछे छह अन्य सदस्य आये। उनमें दो युवतियाँ थी, रेणु और डिम्पल कौशल। मैं तो मुनमुन से ही आतंकित था, अब दो और थी सामने। बताया, चार युवतियाँ नीचे चली गयी हैं। कहाँ पहुँचेगी मेरे देश की बालाएँ? मैंने उन दोनों को बधाई दी उनके साहस पर और कौशल पर भी।

मुसकराकर दोनों ने आभार प्रगट किया, कहा, "आप उनहत्तर की आयु में यहाँ साढे चौदह हजार फीट आ सकते है तो क्या हम बीस हज़ार फ़ीट तक नही जा सकती?"

कुछ क्षण के लिए मन के विषाद को जैसे आह्लाद ने पीछे धकेल दिया। उन निर्जन मे जहाँ कुछ क्षण पहले क्रोध की चिंगारिया उड रही थीं अट्टहास गूँज-गूँज उठा। कर्नल बहुत ही खुशदिल और प्यारे दोस्त है। परिचय, फोटो, फिल्म, समय न जाने कैसे बीत गया। स्वामी जी के वह पुराने मित्र हैं। बहुत अच्छा लगा उनकी रोमाचक कथा सुनकर। एक दुर्घटना भी घट गयी थी उस दल के साथ। स्टोव फट जाने के कारण डिप्टी-लीडर श्री सिंह का मुँह और हाथ जल गये। रेणु के बाल झुलसे। नाक पर भी लपटों ने अपनी पहचान अंकित कर दी। अगर सिंह स्टोव छोड़ देते तो दोनों ही भस्म हो जाते।

वे लोग जैसे आये थे वैसे ही हँसते-खिलखिलाते चले गये। हम लोग भी खाना खाकर चट्टान पर लेट गये। दो बजे स्वामी जी का आदेश पाकर हम जोशी जी के साथ घूमने निकले। वही हिमशिखरों से घिरा विस्तार। कल की आतंकित कर देने वाली चढाई के बाद समतल पर चलना कैसा सुखकर लगा, भटकता बच्चा माँ की गोद मे आ जाये जैसे। भारवाहक ईंधन बटोरता है। मैं पर्वतारोहियों द्वारा फेंके गये सभ्यता के चिह्न बटोरता हूँ...।

सहसा सामने देखा, दूर एक उठान पर शिवलिंग शिखर पर विजय पाने को

---

1. मेजर ए० डब्लू० आर० काले, उपनिदेशक प्रशिक्षण तथा एन० सी० सी० के महानिदेशक।

कटिबद्ध आस्ट्रियन दल का आधार-शिविर है। घूमते-घूमते वहीं पहुँच गये। दल के नेता गुन्टर ग्रूवर और संपर्क-अधिकारी सरदार के० एन० सिंह ने ललक कर हमारा स्वागत किया। कहाँ ठठ-के-ठठ नर-मुंडों से भरी दिल्ली की सड़कें, कहाँ पाँच मील के विस्तार में दस-पंद्रह मनुष्य! टूटने और जुड़ने की प्रक्रिया कितनी सरल है! दूर से ही देखकर उन्होंने चाय बना ली थी। पीते-पीते खूब बातें होती है। हँसी-मजाक भी होता है। उनके भारवाहक बहुत दिलचस्प व्यक्ति हैं। प्रतिक्षण मृत्यु से साक्षात्कार करते आरोहण के समय यदि कोई हँस सकता है तो वही जीना जानता है। क्रोध तो सभी को आता है। ग्रूवर बहुत सरल, अनुभवी और विनोदप्रिय व्यक्ति है। तीसरा कैम्प स्थापित हो चुका है। कल वे भी पहले शिविर में पहुँच जायेंगे।

कभी-कभी, छोटी-छोटी बातें कैसे रस विभोर कर देती है। सरदार जी को देखते ही मैंने अंग्रेजी में कुछ पूछना चाहा। बात बीच में ही काट कर वह बोले, "नो इगलिश, स्पीक इन हिन्दी।"

मैं लज्जित होकर भी गर्व से भर आया। ऐसे ही कल धूप में पास बैठी मुनमुन से पूछा मैंने, "मुनमुन! तुम कलकत्ता में कहाँ रहती हो?"

बोली, वह एकदम, "शरच्चद्र चटर्जी का नाम सुना है आपने?"

मैंने भी तुरन्त उत्तर दिया, "उनकी तो मैंने जन्मपत्री पढ़ी है।"

"क्या मतलब?" प्रश्नवाचक मुद्रा में उसने मेरी ओर देखा।

इस बार स्वामी जी बोले, "विष्णुजी ने चौदह वर्ष खोज करने के बाद उनकी जीवनी लिखी है, 'आवारा मसीहा'।"

खिल उठी मुनमुन, "ओह आप हैं! तब तो आपने हावड़ा में उनका घर अवश्य देखा होगा। उसी घर से सटा हुआ मेरा घर है। कितनी खुशकिस्मत हूँ मैं कि तपोवन आयी तो आप लोगों से भेंट हुई, आपसे और स्वामी जी से।"

आधार-शिविर से घूमते हुए हम यहाँ के एक मात्र दूसरे निवासी की कुटिया पर पहुँचे। वे बाबा के नाम से प्रख्यात हैं। एक चट्टान पर है उनकी गुफा। बाहर बैठने को बहुत स्थान है। धूप में बैठकर फिर चाय पी। बाबा सिगरेट पीते रहे और कहकहे लगाते रहे और हम शिखर जीतते रहे। ग्रूवर और मुनमुन भी आ गये वहीं। कैसा निर्जन! कैसी खिलखिलाती महफिल! हिमशिखर भी लालायित हो उठे थे उतर आने को। पिछली यात्रा में मैंने उन्हें तप लीन गंभीर मुद्रा में देखा था जैसे युग-युग से समाधिस्थ हों वे, पर इस बार मैंने उन्हें सहज हो आये तपस्वियों की तरह मुदित-मन देखा। मुनमुन बोली ग्रूवर से, "क्या मैं आपके साथ आपके प्रथम शिविर तक चल सकती हूँ?"

ग्रूवर बोले, "क्यों नही चल सकती? लौट भी सकती हो। सवेरे आठ बजे जाना होगा मेरे साथ।"

चार बजने को थे। बाबा का झंडा हवा में ऐसे फड़फड़ा रहा था जैसे चट्टानें टूट-टूट कर गिर रही हों। मैं और साथी अकेले ही लौट चले अपनी कुटिया की ओर। उस निर्जन मे भी भटक गये, पर वह भटकना कितना अच्छा लगा। मुनमुन किसी छोटे मार्ग से हमसे पहले पहुँच गयी थी। उसने ग्रूवर से तब तो नही कहा था कि वह जाना चाहेगी। अब जोशी जी को साथ लेकर आधार-शिविर पर जा रही थी यह सूचना देने के लिए और यह जानने के लिए भी कि क्या कोई उसे गंगा-हिमानी पार करा देगा?

सूर्य देवता शिखर पर जा बैठे थे और शीत तीव्र गति से नीचे उतर रहा था, पर वायु की गति कुछ मद हो आयी। हमे अदर शरण लेनी पड़ी। प्रकृति जितनी सुहावनी है मन उतना ही विमर्श हो आया है। जानता हूँ अब इधर नही आ सकूँगा, परन्तु अंतिम बार का यह आना अतिम क्षण तक कसकता रहेगा।

रात एक अद्‌भुत दृश्य देखा था। अष्टमी का चन्द्रमा अमृत बरसाता कैसे एक शिखर से दूसरे शिखर की ओर यात्रा कर रहा था, मानो प्रेयसी अपने प्रेमियो को लुभा रही हो पर कैसा शांत, कैसा गरिमापूर्ण है प्रकृति का प्रेम-निवेदन!

यही गरिमा अकसर प्रलयकर भी हो उठती। मेरे साथी तो यह दृश्य देखकर भावविभोर हो उठे। अपनी डायरी में उन्होंने लिखा, "परम पावन आश्विन मास की शुभ शुक्ल पक्ष की अष्टमी की रात्रि को अर्द्ध-चन्द्र अपने संपूर्ण वैभव और अनुपम प्रकाश को लेकर उस रजतरंजित जाज्वल्यमान तपस्वी (शिवलिंग शिखर) के सर्वोच्च शिखर पर आकर इस प्रकार शोभायमान हो गया मानो परमदेव महादेव कैलाशपति शंकर भगवान की जटाओ मे आकर स्थिर हो गया हो।"

एक और रात[1] गुफा मे बीती। कितना अंतर था दो रातों में! पहली रात उल्लास से आलोकित थी। दूसरी रात ऐसी जैसे अभिनन्दन समारोह शोक-सभा मे परिणत हो गया हो। ऐसा भी होता है कभी-कभी। इसीलिए शायद पूर्व-जन्म है। उसका पाप-पुण्य भी है। मेरा पूर्व-जन्म हुआ होगा कभी तो पाप-ही-पाप किये *होंगे मैंने। यकवक्त सब-कुछ ऐसे घट रहा है जैसे बीसवी सदी मे मुसकान ओढ़े* रहते हैं लोग। मुनमुन सवेरे ही चली गयी। उसे कुछ पता नहीं तूफान का। वह अब कभी मिलेगी भी नही। पर कितना कुछ दे गयी वह इन सीमित क्षणो मे...!

अंतर की व्यथा-कथा को यही समाप्त करूँ। बाहर देखूँ जरा। धूप मे दिपो-दिपो कर रही है प्रकृति। रात का कुहरा जम गया है स्थान-स्थान पर। हिम-सरिताओं पर हिम की परतें चढ़ी हैं। कैसे चमचम करती हैं वे, पर पानी लेने को उन्हे पत्थर से तोडना पड़ता है। समतल के विस्तार पर भी हिम ने अधिकार

---

1. 7 अक्तूबर, 1981

जमाना शुरू कर दिया है। कुछ ही दिनों में सब-कुछ को लील जायेगा वह साम्राज्यवादियों की तरह...!

विदा की वेला आ पहुँची। अब कभी नही देख पाऊँगा इस पावन प्रदेश को जो नितांत शांत ही नहीं, सुरभित भी है—बाहर से भी, भीतर से भी। कैसा ऐश्वर्य देखा था रात नक्षत्र-खचित नील-गगन में, आँखें अघाती नही थी उस रूप-जाल को पीते पर, अब तो लौटना है फिर मृत्यु-लोक में। सो विदा समतल, विदा हिम-सरिताओ, विदा हिम-शिखरो! "बहुत दिया देने वाले ने आँचल ही न समाय तो क्या कीजे।"

मेरे साथी धर्म-भीरू है। उन्होंने इसे इस प्रकार ग्रहण किया है, "उत्तम मननशील साधक वहाँ जाकर प्रकृति की अनुपम शोभा से आकृष्ट होकर हठात ब्रह्म-चिन्तन में लीन हो जाता है...सौदर्य ब्रह्म का ही अपना रूप है। ब्रह्म का सौंदर्य ही प्रकृति के माध्यम से झलकता है। ब्रह्म-तत्व के जानने वाले मनीषि इसका साक्षात अनुभव करते है। ब्रह्म मे निष्ठा ही सब श्रेयों मे महान श्रेय है और इस प्रकार की यात्राएँ इस निष्ठा में सहायक होती है।"

"जाकी रही भावना जैसी, हरि मूरति तिन देखी तैसी।"

वही मार्ग, जटिल और भयप्रद। उतरना कम कठिन नही होता, पग-पग पर रपटन मृत्यु की राह दिखाती है। जोशी जी हमारे साथ हैं। स्वामी जी आगे बढ़ गये हैं, लेकिन कुछ देर बाद पीछे से सिगरेट पीने वाले बाबा द्रुत गति से आये और आगे बढ गये, पैरों मे पख लगे हों जैसे। जाते समय जिस असिधारा-पथ को बच्चों की तरह फुदक-फुदक कर पार किया था, ये बाबा उसी के पास से नीचे उतरे और देखते-देखते उधर ऊपर आ गये। हमने भी 'महाजनो येन गतः स पन्थ.' के अनुसार उनका अनुगमन किया। कठिन था, पर वैसा भयावह नही। नीचे उतरते समय हम यह देख सके कि गंगा-हिमानी की छत कितनी मोटी है। वह निरंतर पिघलती है, पर निरतर होता हिमपात उसे सघन करता रहता है। कितने युगों से यह प्रक्रिया चलती आ रही है। कितने युगों तक चलती रहेगी और हमें यह घोषणा करने का अवसर देती रहेगी—"हम उस देश के वासी हैं जिस देश मे गंगा बहती है।"

गोमुख पहुँचने पर जोशी जी भी अलग हो गये। हम अब भारवाहक के साथ थे। काफ़ी भटकाया पूर्णानंद ने। सबेरे एक-एक प्याला चाय लेकर चले थे। बाद में एक नाले के पास जोशी जी ने आग्रहपूर्वक एक-एक रोटी हम दोनों को खिला दी। उसी एक-एक प्याला चाय और एक-एक रोटी के सहारे हम निरतर चलते रहे आठ घंटे, उन जटिल मार्गों पर। अब तो मार्ग में अनेक सहयात्री गोमुख से लौटते हुए मिल रहे थे। एक बंग-महिला के उत्साह का पार नहीं था। तपोवन

जाना चाहती थी, पर नवजवान बेटा था कि गोमुख जाते-जाते ही साहस खो बैठा। हम इस आयु में तपोवन होकर आ रहे हैं। वह तड़प उठी, बोली, "दादा! एक तमाचा मारिये न मेरे बेटे के गाल पर। पच्चीस वर्ष का है यह और देख रहे है जैसे शरीर में प्राण न हो।"

सोचा मैंने, मुनमुन तो बाईस ही वर्ष की है। साहस का संबंध न आयु से, न लिंग से। वह तो मन की वस्तु है। संकल्प है तो सब-कुछ प्राप्य हो रहता है।

मन्दिर पहुँचते-न पहुँचते छह बज गये। अंधकार घिर आया। भारवाहक भी कहीं छूट गया था। पंडों ने हमारा स्वागत किया। चाय पिलाई। पता लगा, हमारा सामान इसी ओर यात्री विश्राम-स्थल में पहुँच गया है। रात में तपोवन कुटीर न जाना होगा। अच्छा नहीं लगा, पर बहुत थक गये थे। यहाँ सब सुविधाएँ भी थीं। गरम पानी और भोजन की व्यवस्था जोशी जी ने कमरे में ही करवा दी। गंगा-मंदिर के मुख्य पुजारी भी व्यस्त हो उठे हमको लेकर। इस स्वागत ने थके तन-मन को सहला दिया। वर्षों की एक कामना पूरी हुई पर...!

अब नहीं सोचना चाहता पाने और खोने की बात। जो मिला है उसे सहेजेंगे, जो खोया है उसे फिर से पाने का प्रयत्न करेंगे। अंतिम क्षण तक खोने-पाने का यह खेल चलता ही रहेगा। यही द्वन्द्व तो संसार है।

तेजी से बदलती घटनाओं पर विचार करते-करते न जाने कब सो गये।

खण्ड पाँच

फिर मृत्यु-लोक
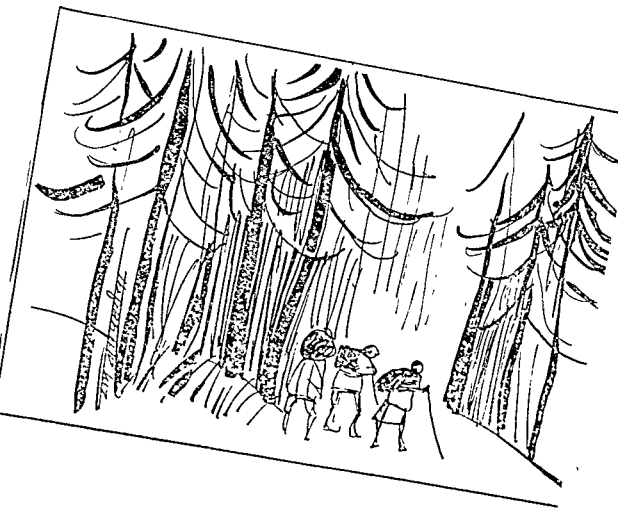
चरैवेति चरैवेति

लौटने[1] से पूर्व हमने यहां के कुछ प्रसिद्ध साधुओं से भेंट की। अधिकतर वे वैराग्य भक्ति-युक्त निवृत्ति-मूलक मार्ग के साधु है। बारहों महीने नग्नावस्था मे रहते हैं। हठयोग के द्वारा उन्होंने अपने शरीर को साध लिया है। उसका विश्वास है कि संसार में रहकर मुक्ति नही मिल सकती है। वहां तो मात्र माया है। कुछ लोग कहते हैं, "यह समर्पित जीवन है।" लेकिन किसके प्रति? वे कहेगे, "ब्रह्म के प्रति।" लेकिन मनुष्य क्या ब्रह्म की सर्वोत्तम कृति नही है? ससार क्या ब्रह्म के द्वारा निर्मित नही हुआ है? जो ब्रह्म को नही मानते, उनके लिए संसार मिथ्या नही है, लेकिन जो ब्रह्म के उपासक है, उनके लिए भी संसार से पलायन मुक्ति है, यह बात समझ मे नही आती। यह तो अपने को इतिहास से, काल मे, सबसे तोड़ने जैसा है। वस्तुतः विषाद और विरक्ति आर्य सस्कृति के लिए विजातीय तत्व है। उपनिषद् युग के बाद ही इन तत्वों का प्रवेश हुआ। फिर भी यहां के साधुओं के सबध में बहुत-कुछ सुनते आ रहे थे। दर्शन की लालसा हो जाना स्वाभाविक था। स्वामी सुंदरानदजी को आगे करके हम इस अभियान पर चल पड़े। मानो चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा, "आप एक-दो दिन मे यहां के साधुओं का परिचय नही पा सकते, ऊपरी रूप ही देख सकेंगे। राम जब बन जा रहे थे तब मार्ग मे उन्होंने एक बगुले को देखा। नदी किनारे वह एक पैर से खड़ा हुआ साधना कर रहा था। उन्होंने लक्ष्मण से कहा, 'लक्ष्मण, इसकी साधना को देखो। वह सचमुच साधु है।'

"उसी समय नदी से एक मछली निकली। बोली, 'हे राम, यह बगुला कितना बडा साधु है, यह मैं जानती हूँ। आप तो एक क्षण में चले जायेंगे।'"

इस कथा पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नही है। आज के वैज्ञानिक युग में इस व्यक्तिगत हठयोग की उपयोगिता सहज ही समझ में नही आ सकती। सबसे पूर्व हम स्वामी सुंदरानंदजी के गुरु स्वामी तपोवनम् महाराज के आश्रम में गये। लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व, 16 जनवरी, 1957 को उनका शरीरांत हो चुका है।

---

1. 8 जून, 195'

अपनी मातृभूमि केरल का त्याग करके वह लगभग तीस वर्ष उत्तर-काशी और गंगोत्री मे रहे। शकर की जन्मभूमि कालटी (कालड़ी) में उनका जन्म हुआ था। शकर की भाँति ही वह भी वेदांत के पण्डित थे। स्वभाव के सरल, परदुख-कातर और निरभिमान थे। सभी साधु-सत आज भी बड़ी आत्मीयता से उनका स्मरण करते हैं। वह निष्काम कर्मयुक्त प्रवृत्ति मार्ग के साधु थे। लोक-कल्याण और लोक-संग्रह मे उनकी आस्था थी। सन् 1945 मे श्री महावीरप्रसाद पोद्दार यहाँ आये थे। उन्होंने स्वामी जी के संबंध मे लिखा है :

"बात को ठीक ढंग से समझते है। उदार दृष्टि और व्यवहारी हैं। देशभक्ति को ईश्वराराधन ही मानते हैं। कहते थे कि अच्छी नीयत से ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये सत्कर्म मनुष्य को मुक्ति की ओर ले जाते हैं।"

गंगोत्री क्षेत्र के अनेक अगम्य प्रदेशों में जाकर वहाँ की सुषमा को उन्होंने देखा था। तपोवन और नंदनवन जैसे सुरम्य प्रदेशों मे वह ब्रह्म की उपासना किया करते थे। वह महान् पर्यटक थे। कई पर्वत-शिखर और हिमानियाँ उन्होंने खोज निकाली थीं। अपनी पुस्तक *'ईश्वरदर्शनम्'* के दूसरे खड *'हिमगिरि विहार'* मे उन्होने उनकी प्राकृतिक सुषमा का वर्णन किया। उनकी कुटिया मे अब उनका चित्र लगा है और वहाँ रहते हैं हमारे सुपरिचित स्वामी सुंदरानंद जी।

यहाँ के संन्यासियो मे सबसे विख्यात हैं स्वामी कृष्णाश्रमजी (अब स्वर्गवासी)। पंडित मदनमोहन मालवीय ने, काशी विश्वविद्यालय के प्रागण में जो मंदिर है, उसका शिलान्यास इन्हीं से कराया था। भागीरथी तट पर अपने आश्रम मे आजकल वह समाधिस्थ होकर बैठे हैं। क्षीणकाय, श्यामल बदन, रक्तिम नेत्र। बस पुतलियों की गति से पता लगता है कि वह जीवित हैं। चालीस वर्ष से वह उसी अवस्था में हैं। प्रथम दृष्टि मे ऐसा आभास होता है कि कोई पद्मासनस्थ जैन मूर्ति हो। तीस वर्ष से एक पहाड़ी युवती उनकी सेवा मे रहती है। पुरुषों जैसी वेशभूषा मे रहने वाली वह महिला बोलती भी पुरुषवाचक रूप में ही है। कहने लगी—

"अपनी सेवा मे लेने से पूर्व स्वामीजी ने हमसे तीन वर्ष तक कठोर साधना करायी। कहते थे, किसी काम को करने से पहले उसके योग्य बनो। तीन साल बाद कठिन परीक्षा लेकर देखा। अब तो लगभग तीस वर्ष से उनके साथ हूँ।"

फिर बोली, "मौन धारण करने के बाद कुछ दिन तक तो स्वामी जी को जो कहना होता था, लिखकर दे देते थे। अब तो वर्षों से वह भी छोड़ दिया है। समाधि मे लीन रहते हैं। जो खाने को मिल जाता है, खा लेते हैं।"

शिष्या की बातें सुन रहे थे, लेकिन दृष्टि कोठरी मे पद्मासनस्थ दिगंबर स्वामीजी की ओर थी। सोच रहे थे, संसार से दूर एकात मे साधना द्वारा क्या मुक्ति हो सकती है ? गुरुदेव ने लिखा है, "मुक्ति नही, मेरे लिए मुक्ति सब कुछ त्याग देने मे नही है। प्रभु ने ही तो हमें अगणित बंधनो में जकडा है।"

हठयोग निस्सदेह बडा कठिन है। लेकिन त्याग का यह मार्ग क्या सबके लिए सुलभ है ? उसकी उपयोगिता क्या इतनी सहज है ? आज न दूरी रह गयी है, न काल ही अंकुश है। तब व्यक्ति की यह एकात साधना किसको आकर्षित करेगी ?

हम लोग बरामदे में दूसरे दर्शनार्थियों के बीच बैठे थे कि सहसा एक व्यक्ति ने यशपालजी के कान मे कहा, "आप कुछ धन भेंट करना चाहे तो स्वामी जी उसे स्वीकार कर लेंगे।"

हमने उनकी ओर देखा। पर उनकी प्रेरणा हमें सक्रिय नही कर सकी। आत्म-पीडन का यह मार्ग हमारे अंतर मे श्रद्धा का ज्वार नही उठा सका। श्रद्धा के अभाव में दान व्यर्थ हो रहता है। हम केवल प्रणाम ही कर सके।

नेपाल-निवासी स्वामी नरहरि बडे सौम्य-सरल हैं। खूब खुलकर हँसते है। श्वेत केश, दाढ़ी भरा मुख, स्फूर्ति से पूर्ण। हँसते है तो आगे के टूटे दाँत दिखायी दे जाते हैं। वस्त्र धारण नही करते। आयु होगी पैंसठ के आस-पास। दस वर्ष की अवस्था मे ही उन्होंने अपनी जन्मभूमि छोड़ दी थी। बनारस मे शिक्षा पाने के उपरांत तीर्थों का भ्रमण करते रहे। बाईस वर्ष से गंगोत्री मे है। यशपाल ने उनसे पूछा, "क्या आप बता सकेंगे कि घर-गृहस्थी मे रहते हुए आत्मोन्नति किस प्रकार की जा सकती है ?"

वह बोले, "सब यही पूछते हैं। मैं कहता हूँ, गृहस्थ मे रहकर आत्मोन्नति नही हो सकती। आत्मोन्नति क्या है ? चिता से मुक्त होकर निरंतर आनंद में वास करना। जीवन की तीन अवस्थाएँ हैं—जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। अतिम अवस्था वास्तविक है। परन्तु वह बिना घर-बार त्यागे, बिना एकात साधना के प्राप्त नही हो सकती। आत्मोन्नति के लिए घर को लात मार कर जगल में घुस जाना चाहिए।"

यशपाल ने कहा, "लेकिन हमारे सामने तो गांधीजी का आदर्श है। वह दुनिया में रहे और उत्तरोत्तर आत्मोन्नति करते रहे।"

वह बोले, "गांधीजी धन्य हैं। वह सत्पुरुष थे, पूज्य थे। पर वह योग की हमारी कोटि मे नही आते। उनका मार्ग आत्मोन्नति का मार्ग नही है।"

विनोबाजी की चर्चा चलने पर वह बोले, "मैं उन्हें नही जानता। उनका नाम नही सुना मैंने।"

यशपाल ने पूछा, "क्या आप सब साधु-संत कभी धर्म-चर्चा के लिए एक

स्थान पर इकट्ठे होते हैं ?"

वह बड़े जोर से हँसे और पेट पर हाथ मारकर बोले, "क्यों नही ? इस पापी पेट के लिए भोजन लेने सब सदाव्रत में जाते हैं।"

इस तीखे व्यंग्य के पश्चात हम उन्हें प्रणाम करके आगे बढ़ गये और पहुँच गये स्वामी ब्रह्म विद्यानंद तीर्थ के आश्रम में। वह दण्डी स्वामी के नाम से प्रसिद्ध है। उनकी उन्मत हँसी और उनकी रोचक कथाएँ आज भी हृदय पर अंकित हैं। जब हम उनके पास पहुँचे तो वे अपने आश्रम के बरामदे में आसन पर विराजमान थे। बड़ी आत्मीयता से उन्होंने हमारा स्वागत किया, खूब बातें हुई। विशेष रूप से हम लोग यक्ष और किन्नरों की चर्चा करते रहे। वह कई बार यक्षों से भेंट कर चुके हैं। मैंने निवेदन किया, "किसी एक भेंट के संबंध में बताइये तो।"

वह बोले, "सुनो, भयंकर शीतकाल के समय की बात है। अकस्मात दो साधु आश्रम मे पधारे और बोले—'महाराज, भोजन की इच्छा है। आलू और परांवठे खाना चाहते है।'

"मैंने उनका स्वागत किया, लेकिन उस समय आलू मिलने की सम्भावना नहीं थी। फिर भी एक व्यक्ति को बाजार भेजा। उसे कही भी आलू नही मिले। परन्तु न जाने किस आंतरिक शक्ति के संकेत पर वह आश्रम के आँगन को खोदने लगा। अचानक उसे कई कद मिल गये। मैंने यहाँ कभी कंद नही बोये थे। ये कहाँ से आ गये ? परीक्षा के लिए दो-तीन कंद अपने पास रखकर शेष का साग बनाया। नमक चखने के बहाने मैंने पाया कि इनका स्वाद तो अमृत के समान है। उन्होने बड़े प्रेम से भोजन किया। हाथ धुला कर जैसे ही मैं मुडा, वे दोनों साधु एकाएक जैसे अदृश्य में लुप्त हो गये। जहाँ कंद रखा गया था, वहाँ भी कुछ नही था। साधारण मनुष्य इस प्रकार ग़ायब नही हो सकते। यहाँ की भूमि बड़ी पवित्र है। और ऐसे पवित्र स्थानों पर यक्षों का निवास होता है।"

उन्होंने एक और कथा सुनायी। कहने लगे—"एक बार कुछ साधुओं के साथ हम नदन-वन गये। बड़ा पवित्र स्थान है। भोजन साथ ले गये। वहाँ पहुँच कर मन बहुत प्रसन्न हुआ। थकावट क्षण भर में दूर हो गयी। बड़े प्रेम से भोजन करने बैठे, लेकिन पाया कि साग में नमक ही नही है। तब हम एक-दूसरे को दोष देने लगे। साधु का धर्म संयम है, लेकिन ऊँचाई पर संयम नही रहता। तभी क्या देखा, एक चरवाहा चला आ रहा है। गद्दी लोग इधर आते रहते हैं। कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। हमारे पास आकर वह बोला, 'स्वामी जी, यदि आपके पास साग हो तो मुझे भी देने की कृपा करें।'

"मैंने कहा, 'साग तो हमारे पास बहुत है, लेकिन उसमें नमक नही है।'

"चरवाहा तुरन्त बोला, 'नमक मेरे पास बहुत है, यह लीजिए।'

"उसने हमें नमक दिया, हमने उसे साग दिया। लेकिन साग लेते ही वह ऐसा

गायब हुआ कि कही पता ही नही लगा। दूर-दूर तक देखने पर एक भी भेड़-बकरी नही दिखायी दी। अब बताइये, वह यक्ष नही तो और कौन था ?"

ऐसी कथाओं को कोई अत नही है। मनुष्य के अतर मे शिशु सदा बैठा रहता है। इसलिए रस भी है। लेकिन आज के वैज्ञानिक युग में इन चमत्कारिक कथाओं पर कौन विश्वास कर सकता है ? इसलिए जब एक कंदरा में हमने जटाजूटधारी अवधूत रामानद जी से भेंट की तो मन मे यही प्रश्न उमड-घुमड़ रहा था। गुहा की छत और दीवार सब इतने छोटे थे कि हमें झुक कर प्रवेश करना पड़ा। बैठने की सुविधा ही वहाँ मिल सकती थी। धूनी के कारण आँखें भर-भर आती। कुछ देर चर्चा करने के बाद मैंने उनसे पूछा, "स्वामी जी, क्या आपने कभी यक्ष अथवा किन्नर से भेंट की है ?"

"नहीं। यक्ष और किन्नर कभी मानव-रूप धारण नही करते। सुनते है कि पक्षी के रूप मे वह कभी-कभी आते है। हाँ, स्वप्न में मैंने सिद्ध पुरुषों के दर्शन अवश्य किये हैं। अपने अनुभव से एक बात कहता हूँ कि जब यहाँ चारों ओर हिम का साम्राज्य छा जाता है तो शखध्वनि अवश्य सुनायी देती है। ऐसा भी लगता है मानो कोई निरंतर वेदपाठ कर रहा हो। लेकिन जानते हो, यह क्या होता है ? जब भागीरथी पर बर्फ की परतें जम जाती हैं तो नीचे से उठता हुआ भागीरथी का कलकल-नाद ऐसा सुनायी देता है मानो ऋषिगण वेदपाठ कर रहे हैं। और जब वायु, जो निरन्तर झंझा के रूप मे चलती रहती है, वृक्षों से टकराती है तो वह शंखध्वनि के समान स्वर पैदा करती है। कभी-कभी वीणावादन का स्वर भी मैंने सुना है। झंझा जब बहुत तेज हो जाती है तो शिव ताण्डव करने लगते है। जब वायु की गति धीमी पड़ती है तो पार्वती लास्य नृत्य मे मग्न हो जाती हैं। यह सब वायु का खेल है।"

सुन कर मन आश्वस्त हो आया। कम-से-कम एक साधु तो ऐसा है जिसकी दृष्टि अलौकिकता की दीवारो को छेदकर सत्य के दर्शन कर सकती है। यहाँ की प्रकृति से वह बहुत प्रभावित है, और दस-बारह वर्ष से यही रह रहे हैं।

गगोत्री में सबसे अधिक वार्तालाप करने का अवसर मिला स्वामी मस्तराम से। स्थूलकाय, नग्न शरीर, कीचभरे रक्त नयन, भभूतभरी उलझी जटाएँ, बात-बात पर जीभ निकालने वाले। ऐसा लगता था मानो आदिमयुग का कोई गुहा-मानव वहाँ आ निकला हो। जहाँ उन्मुक्त भागीरथी चट्टानों में स्थापत्य कला के नये-नये मान स्थापित करती है वही दक्षिण तट पर गगन-चुम्बी नग्न नैलग श्रेणी की छाया मे उनका आश्रम है। दो-तीन कुटीर, उनके आगे एक धूलभरा तग बरामदा, सामने नाना प्रकार के लताकुंज और वृक्षों से परिवेष्टित एक छोटा-सा

आँगन ।[1] जब हम वहाँ पहुँचे तो बरामदे मे कड़वा धुआँ उमड़-घुमड़ रहा था। आँखें फाड़कर देखना पड़ा । पाया कि एक फटी-सी चटाई पर कुछ व्यक्ति मूर्तिवत बैठे है । कई क्षण देखते रहे । कभी लकड़ी उठा कर धूनी में डालते, कभी आँखों के आगे हाथ रखकर सामने के व्यक्तियो को देखते । कभी आँख, नाक और मुंह से बहते पानी को उपेक्षा से पोंछते, लेकिन उनका बोलना और जीभ निकालना कभी बद नही होता । यशपाल जी ने पूछा, "महाराज, हम लोगों का दुनिया को छोड़ कर एकांत मे जाकर रहने में विश्वास नही है। संसार में रहते हुए ही आत्मिक विकास के अभिलाषी है । कोई मार्ग बताइये ।"

आँखों से धुएँ के कारण झरते पानी को पोंछते हुए उन्होंने कहा, "यह असंभव है। यदि आत्मा की उन्नति चाहते हो तो घर-बार छोड़ो। मोह-माया का त्याग करो और अनासक्त भाव से एकात मे ईश्वर-चिंतन करो। यह काम संसार मे रह कर नही हो सकता । यही आना होगा ।"

मैंने कहा, "महाराज, घर-बार छोड़ना बहुत कठिन है।"

बोले, "तब जीवन भर उसी चक्कर मे पड़े रहो। लेकिन मैं कहता हूँ, कठिन कुछ नही है। मत जाओ घर। रह जाओ यही। वहाँ चण्डिकाएँ बैठी हैं, खूत लेंगी। वहाँ आप लोगों का उद्धार सभव नही है । धन की तृष्णा बडी बुरी होती है। आप लोगों के चेहरे से लग रहा है कि आप ध्यान नहीं करते ।"

लेकिन जब उन्हे मालूम हुआ कि हम साहित्यिक हैं तो सहसा उनका स्वर बदल गया। गद्गद होकर बोले, "अहा, आप तो सरस्वती के उपासक है। भगवान के रूप है। आपकी दूसरी बात है। आपको बहुत जल्दी वैराग्य होगा। आप आर्य-समाजी तो नही है। सनातनी हैं न?"

मैंने कहा, "पता नही, हम क्या हैं? लेकिन श्री अरविंद के इस वाक्य में हमारी आस्था है कि काम करते समय प्रार्थनामय रहो, क्योंकि भगवान के प्रति शरीर की सर्वोत्तम प्रार्थना कर्म ही है।"

वह बोले, "हाँ-हाँ, यह ठीक है। कर्म करते हुए चिंतन हो सकता है। पर अलग से भी करो। रात को भोजन मत करो। ब्रह्म-मुहूर्त मे उठकर एकांत मे एक घटा ध्यान करो। किसी के पास मत सोओ।"

बीच-बीच में वह भजन गा उठते—"ऊधौ मन नाही दस-बीस" अथवा "मेरे तो गिरधर गोपाल।" कभी-कभी इस प्रकार बोलते जैसे माँ अपने बच्चों को लाड़ लड़ाती है। उनका एक प्रिय शिष्य सदाशिव दूर गोमुख के पास एकांत कुटीर मे रहता है। उन्होंने मुझसे कहा, "अब तुम लौट कर मत जाओ। यही साधना करो। यह देखो, यह कुटी खाली है। उसमें मेरा शिष्य सदाशिव रहता था।"

1. अब (सन् 1981) इसका नाम लक्ष्मण कुटीर है। स्वामी लक्ष्मणदास के चेले-चेलियाँ रहते हैं यहाँ।

और वह जैसे विह्वल-विकल हो उठे। कहा, "भइया, उसे वैराग्य हो गया है। पहले मेरे पास रहता था। अब न जाने क्या हुआ। आदमियों से दूर भागने लगा। बहुतेरा समझाया, पर नही माना। भयानक वन में अकेला रहता है। उमर कुछ नही, लड़का है, पर बड़ा विद्वान है। आँखें तेज से चमकती है। दुनिया उसके दर्शनों को तरसती है, पर वह निर्दयी आता ही नही। क्या करूँ, कैसे उसके पास सामान भिजवाऊँ! "

मैं हतप्रभ सोचने लगा—निवृत्ति मार्ग के साधुओं मे इतनी ममता है तो फिर हम गृहस्थों को माया से बचने का उपदेश क्यों देते है? यह आसक्ति नही है क्या? यशपाल बोले, "महाराज अभी तो आप हमसे कह रहे थे कि मोह-माया छोड़ो, पर आप तो स्वय इससे मुक्त नही हैं। आप जो कुछ कह रहे है, वह क्या आपके शिष्य के प्रति आपकी आसक्ति नही है?"

स्वामी जी कोई समाधानकारक उत्तर न दे सके। चलते समय बोले, "लौट कर मत जाओ, यही रहो।"

मैंने उत्तर दिया, "स्वामी जी, इस बार तो जाना ही होगा। चण्डिकाओं से पूछ कर नही आये हैं। दूसरी बार सब कुछ त्याग कर आयेंगे।"

गगोत्री में और भी अनेक साधु है। लेकिन उनकी साधना केवल भोजन की सीमा तक ही है। हो सकता है, भयकर वन-प्रदेश मे दो-चार सच्चे साधु भी साधना मे लीन हो, लेकिन हम उनको नही खोज सके। आज सोचता हूँ कि इस वैज्ञानिक दुनिया मे जब सब कुछ बदल रहा है, स्थापनाएँ तक बदल चुकी है तब इतिहास से अपने को मुक्त करके साधना के नाम पर इस प्रकार का जीवन बिताना क्या पलायन नही है? अपने-आपको ससार से अलग करके केवल अपनी मुक्ति की बात सोचना किसी भी दृष्टि से समाधानकारक नही है। हम प्रवृत्ति और निवृत्ति की व्याख्या मे नहीं उलझना चाहते, लेकिन जो ससार में रह कर भी साधना करने की शक्ति पा लेता है वही हमारी दृष्टि मे सच्चा साधु है। प्रकृति का एकांत साधु और गृहस्थ—दोनो के लिए समान रूप से कल्याणकर है, लेकिन उसे पलायन का साधन बना लेना क्या मुक्ति की राह है? जब हम जीना चाहते है तो सुख-दुख, हर्ष-शोक, जय-पराजय के द्वन्द्वों से मुक्ति क्यो चाहें? जीवन के प्रवाह में मृत्यु क्या है? फिर अमरता का मोह हमे पलायन के मार्ग पर क्यों आकर्षित करे? गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, "मैं तो "मानुषेर माझे बाँचिबारे चाई।" मनुष्यों के बीच मे अस्वीकार करके नही जीया जा सकेगा। प्रकृति मेरे अहं के दंश को दूर करेगी और मेरे आत्मविश्वास में आस्था का मन्त्र भरेगी।

21 दिन तक हिमालय के दुर्गम प्रदेशों में घूमने के बाद अब वापस लौटना

है।[1] मन न जाने कैसा होने लगा। अभी तो आत्मीयता स्थापित कर पाये थे कि अभी बिछोह सामने आ खड़ा हुआ। मन बार-बार भीग आता है, लेकिन घोरपड़े का आदेश है। सो विदा, हे स्वर्ग ! मर्त्य-लोक का बुलावा आ गया है। वही कलह, कलंक, विद्वेष, मालिन्य, व्यापारिक स्नेह, आयातित शिष्टाचार और उपेक्षित आत्मीयता।

मन्दिर में तब पांच भी नहीं बजे थे। भागीरथी में आचमन किया। जी भर प्रकृति की इस छवि को नयनों में भरा। चलने से पूर्व महेन्द्र ने बड़े स्नेह से पूरी और आलू का साग हमारे लिए तैयार कर दिया। निश्चय किया, पन्द्रह मील चल कर हरसिल में आज की रात बिताएँगे। न वर्षा थी, न बादल। निपट नील गगन, अरुण किरण-जाल से आँखमिचौनी खेलते रजत हिमशिखर, आकाश की ओर भुजा पसारे गगनचुम्बी समाधिस्थ देवदार के वन, हरा-भरा छाया-पथ, मन बार-बार वहीं रम जाने को मचलता था। परन्तु आगे का भयानक सर्पाकार पातालगामी पथ, जिसके प्रत्येक मोड़ पर मृत्यु वरमाला लिये मुसकरा रही है, हमें पुकार रहा है।

लेकिन जैसे ही हम भैरव चट्टी पर पहुँचे, हमारी दृष्टि उस आँगन की ओर गयी, जहाँ जाते समय तिल धरने को जगह नहीं थी और जो अब बंगाल की वधू की तरह निरीह दृष्टि से हमारी ओर टुकुर-टुकुर निहार रहा था। न अब गँजेड़ी साधुओं का जमघट था, न वाचाल सन्यासिनी का वाक्-जाल। बस, निपट एकाकी एक अधेड़ ग्रामीण धरती पर लेटा था। एक साथी ने उसे देखा, कहा, "देखो तो, यह कैसे साँस ले रहा है !"

निमिषमात्र में उसके चारों ओर एक छोटी-सी भीड़ जमा हो गयी। घुटने तक धोती, मैला कुर्ता, खिचड़ी बाल, कीच-भरे सूजे नयन, सूजे पैर, लंबी-लंबी साँसें... मेरा मस्तिष्क तीव्र गति से घूमने लगा। बेचारा कितनी साध लेकर घर से चला होगा ! कैसी कठिनाई से सत्तू खा-खाकर ये भयंकर मंजिलें पार की होंगी ! पैरों में जूता नहीं, बदन पर गरम कपड़ा नहीं। इस हिम-प्रदेश में केवल श्रद्धा की गरमी से ही यहाँ तक आ पहुँचा है। बस, अब एक मंजिल ही तो शेष है। साथी ने धीरे से कहा, "तुम्हारे पास दवा है, इसे दो न।"

तुरत शीशी निकाल कर उसके मुँह में दो गोलियाँ डाली और दृष्टि उसके मुख पर गड़ा दी। साँस उसी तरह चल रही है। मुँह खुला है। लेकिन यह क्या एक हिचकी आयी, एक साथ कई चीख उठे, "देखो, देखो, दवा पेट में गयी।"

दुकानदार बोला, "मौत इसे कभी का ले जाती, पर उसके प्राण गंगोत्री जाने की आशा में अटके हैं।"

1. 8 जून, 1958

ये शब्द जैसे मेरे मस्तिष्क में बज उठे। जैसे प्रभात किरणों का आलिंगन करते हिम-शिखर, उर्ध्वबाहु गगनचुंबी देवदार, कलकल करती भागीरथी की धारा, जैसे वह सारा सुरम्य पर्वत प्रदेश, यहां तक कि तीर्थ-प्रहरी कालभैरव सभी जैसे पुकार रहे हों, 'उसके प्राण गंगोत्री जाने की आशा में अटके है।'

तभी मेरे साथी ने मुझे झिझोड़ा, "बाबा ने आँखें खोली है, दूसरी खुराक दो।"

सचमुच उसने एक बार अपनी मिचमिची आँखें खोली। चारों ओर देखा। कितनी सूनी, कितनी निरीह थी वह कातर दृष्टि ! मेरा अंतर जैसे फट जायेगा। आशा-निराशा के झूले में झूलते हुए मैंने उसके मुँह में दो गोली और डाली। आँखें, फिर मुँद गयी, सांस तीव्र हो उठी। गरदन हिला-हिला कर यात्री लोग अपने-अपने पथ पर बढ गये। तभी मेरे साथी ने बाबा के कान के पास मुँह ले जाकर पुकारा, "बाबा, चाय पीओगे?"

बाबा ने अथक परिश्रम से आँखें खोली। हाथों को धरती पर रगड़ा, पैर हिलाये। चाय वाला ले आया था। साथी ने वृद्ध को सहारा दिया। वह बुरी तरह काँप रहा था। उसने दृष्टि उठाकर मेरी ओर देखा, जैसे गिड़गिड़ाकर कह रहा हो, 'मुझे गंगोत्री पहुँचा दो।'

न जाने क्या हुआ, मेरी दृष्टि सामने के हिम-शिखरों पर जा अटकी। जैसे मैंने ताल्स्ताय की शुभ्र श्वेत भव्य मूर्ति को देखा, जो घाटी से आकाश की ओर उठती चली जा रही थी। फिर देखा कि उसकी कहानी 'दो बूढ़े' के दोनों यात्रियों का एक बूढ़ा जैसे दुर्गम पथों पर भटक कर घाटी में लड़खड़ा रहा था। दूसरा बूढ़ा शिखर पर बैठा हँस-हँसकर किरणों से बातें कर रहा था। एकाएक उसने मेरी आँखों में झांका, मुसकराया। बोला, 'बूढ़े को गंगोत्री पहुँचा दो। घर जाने में दो दिन की देर हो जाएगी, क्या बात है ! एक बार फिर...।'

मैंने जोर-जोर से आंखों को मला, बार-बार मला। कहीं भी तो कुछ नहीं था। बूढा लडखड़ाते, कांपते हाथों में गिलास थामे धीरे-धीरे उसे होठों की ओर ले जाने की भागीरथ चेष्टा कर रहा था। बोझी हँस रहा था, "शाबाश बाबा, पीओ, हाँ पीओ।"

मैं भी मुसकरा आया। दो गोलियां और उसके मुँह में डाल दी। उसने चाय का घूंट भरा। साथी ने मुडकर मुझसे कहा, "अब ठीक है। आओ चलें। हमारा बोझी थोड़ा रुक कर आयेगा। अभी दवा देनी है। चाय भी पिला देगा।"

और लकड़ी उठा कर वह आगे बढ़ गया। मैंने एक बार फिर उस बूढे को देखा, जो उसी तरह कांपता-लड़खडाता चाय के घूंट भर रहा था। दुकानदार ने हमें जाते देख कर कहा, "बाबूजी, इसके गंगोत्री जाने का इंतजाम करते जाइये, प्राण वहीं अटके हैं। आपको आशीष देगा।"

साथी ने नीचे से आवाज दी, "क्या करने लगे ? अभी दस मील चलना है और धूप निकल आयी है।"

मैंने तेजी से दवा की शीशी निकाली, कुछ गोलियाँ कागज में बाँधीं, पैसे दुकानदार को दिये और कहा, "अभी यह चलने योग्य नहीं है। दो दिन तक इसे दवा देते रहना। चाय-दूध भी देना, अच्छा।"

और यह कह कर मैं तेजी से नीचे की ओर भागा। जाते समय जो भयंकर चढाई थी, वही अब उतराई बन गयी थी। उतराई और भी भीषण होती है। पैरों को साधना शव-साधना से भी कठिन हो रहता है। फिर भी उसे पार कर ही गये। उसके बाद जांगला चट्टी और धराली के राजमार्ग पर वृक्षों की छाया मे चलते हुए हम धराली के पास गंगा-तट पर रुके। रेती के विस्तार पर डेरा डाल कर भोजन के लिए बैठे। लेकिन यह क्या ? साग मे नमक ही नही है। इधर-उधर दृष्टि उठायी। बहुत लोग घूम रहे थे, लेकिन उनमें यक्ष कोई भी नही था। महेन्द्र ने हमे कैसा धोखा दिया...!

यह चर्चा चल रही थी कि तेजी से एक व्यक्ति हमारी ओर आता हुआ दिखायी दिया। पास आकर बोला, "क्या आप लोग गंगोत्री से वापस लौट रहे हैं ? आप लोगों ने ही पण्डित महेन्द्र से पूरियाँ बनवायी थी ?"

मैंने कहा, "हाँ-हाँ, क्या बात है ?"

विनम्र स्वर मे वह बोला, "साब, वह साग में नमक डालना भूल गया। उसे बहुत अफसोस है। माफी माँगी है और यह नमक भेजा है।"

हठात् उस व्यक्ति को देखते रह गये। नौ मील के इस पहाड़ी मार्ग पर हमारा यह यक्ष नाम लेकर हमे ढूँढता रहा। आदमी के भीतर यह यक्ष कहाँ छिपा रहता है ? उसको देखने की दृष्टि हम क्यों नही पाते ?

आगे के मार्ग पर भेड़ों के दल मिले। आभूषणों से लदी तिब्बती बालाएँ मिलीं। सामान लादकर ऊपर ले जाती चँवर गाएँ मिलीं। मुखबा गाँव का एक बालक बचनसिंह मिला। उसकी दृष्टि में न जाने क्या था कि शीघ्र ही हम उससे घुल-मिल गये। छोटी-सी उम्र मे कमाई करने के लिए बाध्य हो गया है। बहन के पास रहता है, जो सम्पन्न है और भाई को प्यार भी करती है। पर पढ़ने जायेगा तो काम कौन करेगा...?

बहुत देर तक बहन के घर की बातें सुनाता रहा। कोई शिकायत नहीं। आक्रोश नही। कुछ ऐसी विवशता थी, जिसे उसने अनिवार्य मानकर ओढ़ लिया था। यह आयु और यह विवश वैराग्य...।

तभी एक तरुणी को देखा, जो कंडी मे बैठी हुई कराह रही थी। व्याकुल स्वर में वह हमसे बोली, "भइया, आप बड़े भाग्यवान है, जो पैदल यात्रा करके लौट रहे हैं। मेरा भी यही संकल्प था, परन्तु एक चट्टी पर स्नान करते समय पैर मे पत्थर

लग गया। अगले दिन क्या देखा कि वही पक गया है। अब मैं चल भी नहीं सकती। भइया, मेरा भाग्य लँगड़ा है।"

उसकी वेदना की गहराई को मैंने स्पष्ट अनुभव किया। बोला, "भाग्य कभी लँगड़ा नहीं होता। इस मार्ग पर चोट जितनी सरलता से लग जाती है उतनी ही सरलता से ठीक भी हो जाती है। विश्वास रखिये।"

नहीं जानता उसे विश्वास आया या नहीं, पर क्षण-भर के लिए उसके नेत्र चमक अवश्य उठे।

जिस समय हरसिल पहुँचे, सवा बारह बज चुके थे। डाक-बँगला खाली पड़ा था। सारा दिन बहुत आनन्द से जी भर कर घूमे। राजकीय स्कूल में जाकर पिछले दिनों के अखबार देखे। ऊनी वस्त्रों का केन्द्र देखा। सेब के बागान भी घूम-घूम कर देखे। कल्पना की उस युग की जब यह प्रदेश कुल्लू और कश्मीर की तरह सेबों की घाटी बन जायेगा, लेकिन जब मुख्याध्यापक महोदय से बातें हुई तो वह बोले, "आप लोग दो दिन के लिए यहाँ आते हैं। सब कुछ अच्छा-ही-अच्छा लगता है। लेकिन हमसे पूछिए, कैसी-कैसी कठिनाइयाँ हमें उठानी पड़ती है! यही सुन्दर प्रकृति तब हमारे लिए मृत्यु-छुरा हो जाती है। बड़ी कृपा होगी, यदि आप किसी से कह कर हमारा तबादला नीचे करा दें।"

कठिनाइयाँ है। यह ठीक है, लेकिन यह भी ठीक है कि हम उन कठिनाइयों को सुविधाओं में बदलना नहीं जानते। यह कला जानते थे अँग्रेज। केवल पति-पत्नी अपना संसार बना कर इन निर्जन-दुर्गम प्रदेशों में पूरा जीवन बिता देते थे। स्थान-स्थान पर बने हुए पुल और बँगले उनके साहस की आज भी साक्षी दे रहे है। यह विशाल और सुदृढ़ बँगला एक ऐसे ही व्यक्ति ने बनाया था। जब तक यह भावना हम लोगों में नहीं आती तब तक हम स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकेंगे। हिमवान जैसे सौंदर्य के भंडारों का भी नहीं। जब कर सकेंगे तब हिम-शिखरों की शोभा, बादलों की लीला, फेनोज्ज्वल सरिताओं की क्रीड़ा और संध्या का वर्णविलास नित्य देखने पर भी नया ही दिखायी देगा और प्रकृति यह कहती सुनायी देगी—नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे (मेरे विस्तार का कोई अंत नहीं है।)।

इसी स्थान से छायापथ होकर एक अगम्य मार्ग जमनोत्री से जाता है। स्वामी रामतीर्थ उसी मार्ग से होकर गये थे। उन्होंने इस भयानक सुरम्य प्रदेश का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया है :

> "इसके दोनों ओर की रंग-बिरंगी पुष्प-लताएँ पर्वत पर कलापूर्ण शाल ओढाती है। मकरंदपूर्ण केशर, इत्रासु वनस्पति तथा पुष्प-लताएँ, जहाँ तक दृष्टि जाती है, फैलती गयी है।
>
> "ऐसे वातावरण में लता-पुष्पों के बीच हिम-तुषारों से अलकृत ब्रह्म

कमलों ने उसे सजाया है। जब-जब इस प्रदेश पर दृष्टि जाती है, ऐसा लगता है कि स्वर्ग मृत्यु का नियंत्रण करने वाले देवाधिदेव का सिंहासन यही है। यहाँ के हरे-भरे मैदानों को देखकर लगता है जैसे वे देवताओं के भोजनांतर नृत्य के लिए बिछाये गये कालीन हैं।"

स्वामी रामतीर्थ का साहस अनुपम था। लेकिन जैसे उसने हमें भी प्रेरणा से भर दिया हो। निश्चय किया कि कल चौदह मील पर गंगनानी चट्टी जाकर ही रुकेंगे।

परन्तु यह भूल गये कि यात्रा का यही भाग सबसे भयंकर है। सुक्खी तक साधारण उतराई थी, मार्ग भी सुहावना था, लेकिन उसके आगे धूप तेज हो आयी। वृक्ष का कहीं आभास तक न था। चक्रव्यूह जैसे उतार-चढ़ाव इतने अधिक थे कि हम त्रस्त हो उठे। जो हममें सबसे नवयुवक थे वे घोरपड़े और माधव इतना थक गये कि मार्ग की एक चट्टी पर उन्हें दो घंटे सोना पड़ा। यशपाल और मैं दोनों अपने लक्ष्य की ओर निरंतर बढ़ते रहे। गंगनानी पहुँचकर डाक-बँगले की अंतिम चढ़ाई भी चढ़ी। उसके बाद के दो घंटे कैसे बीते, पता नहीं। जब गर्म कुंड में स्नान किया तब कहीं प्राण लौटे। साथी लोग तो संध्या तक पहुँच सके, इसलिए अब यह निश्चय किया कि कल नौ मील से अधिक नहीं चलेंगे। भटवारी के डाक-बँगले में आराम करेंगे।

उसी दिन जबलपुर के एक अद्‌भुत व्यक्ति से भेंट हुई। क्षीणकाय, लंबा कद, पतला मुख, तेज आँखें, तेज आवाज़, गले में रुद्राक्ष की माला। मुँह से जब-तब गालियों की झड़ी निकलती तो निकलती ही रहती। बर्तनों का व्यापारी था। आयु होगी लगभग 60 वर्ष। उसके पास बीड़ी के बंडल जैसा पीतल का एक सुन्दर केस था। उसमें से निकाल कर बार-बार बीड़ी पीता था और उसका साथी मज़ाक उड़ाता था। बोला, "यह बड़ा कंजूस है। मरने के बाद पड़िए को जो बर्तन दान में मिलते हैं उन्हें सस्ते दामों में ख़रीद कर बेचता है। पचास हज़ार का आसामी है। मरना चाहता है। मैं कहता हूँ, यदि सचमुच मरना चाहता है तो चल गंगा में धक्का दे दूँ।"

हम सब हँस पड़े। परन्तु जब उसकी कहानी सुनी तो जैसे स्तब्ध रह गये। वह बोला, "बड़ा अभागा हूँ मैं। पैसा हुआ तो क्या? तेरह पुत्र और सात पुत्रियों में केवल एक पुत्र और दो पुत्रियाँ बची हैं। तीन पोते थे, उनमें से भी एक रह गया है। क्या भरोसा है इस ज़िंदगानी का? घर से मन ऊब गया है। गंगा मैया ने पुकारा तो दुकान उठाकर चला आया। गाँजा, सुलफा न जाने क्या-क्या नशे करता था। अब सब छोड़ दिये। किसके लिए करूँ?"

मैंने कहा, "बाबा, बीड़ी पीना भी तो नशा है। इसे भी क्यों नहीं छोड़ देते?

यह कलेजा जलाती है।"

दीर्घ निःश्वास खीचकर वह बोला, "भैया, कलेजा तो कभी का जल चुका। यह बीड़ी उस राख को क्या जलायेगी !"

फिर न जाने किस शून्य मे खो गया वह ! निरुत्तर मैं भी चुपचाप आगे बढ गया। पग-पग पर यहाँ यात्री ही तो मिलते हैं। दो क्षण बाद कलकत्ता की एक अधेड़ स्त्री को देखा। अत्यन्त त्रस्त और स्थूलकाय। आगे बढना असभव जैसा ही था। कडी वाले भी ले जाने को तैयार नही थे। बहुत समझाया, परन्तु उनका एक ही उत्तर था—"हम इतना बोझ नही उठा सकते।"

मैं जानता हूँ कि वह स्त्री गंगोत्री अवश्य पहुँच गयी होगी, क्योकि इस यात्रा का सबसे बड़ा बल अगम्य आस्था है। उसी के बल पर मैंने अनेक मरणासन्न व्यक्तियों को अगम्य दुर्गम मार्गों को पार करते देखा है। इस मार्ग पर मृत्यु का वरण पुण्य है, यह विश्वास कितनी शक्ति देने वाला है !

आगे का मार्ग सुगम था। भटवारी पहुँचने मे कोई असुविधा नही हुई। लेकिन विश्राम-भवन मे डिवीज़नल फ़ॉरेस्ट आफ़ीसर ठहरे हुए थे। उन्होंने हमारी तनिक भी चिन्ता नही की। मिलने तक से इंकार कर दिया। लेकिन यशपाल भी बजिद थे। निरंतर आग्रह करते रहे। अंत मे वह बाहर आये और अधिकार के स्वर मे बोले, "यह विश्राम-भवन हमारा है। इसमें ठहरने का पहला अधिकार भी हमारा है। यात्रियों को इसी शर्त पर आज्ञापत्र दिये जाते हैं।"

यशपाल ने कहा, "ठीक है, लेकिन हम भी लेखक और पत्रकार है। कहीं और ठहरने का प्रबध हमने नही किया। हम क्या करें ?"

सुनकर सहसा वह कुछ चिंतित हुए। बोले, "आप लोगों के ठहरने का प्रबंध इसी विश्राम-भवन में हो सकता था, लेकिन मेरे साथ बहुत-से व्यक्ति हैं। आपको कष्ट होगा। यहाँ पर एक अस्पताल है। वहाँ व्यवस्था कराये देता हूँ।"

अस्पताल ख़ाली था। आसानी से हमको स्थान मिल गया। कमरे नये और पक्के थे, लेकिन जब हम लोग निरीक्षण करते घूम रहे थे तो मालूम हुआ कि वह जच्चा-बच्चा अस्पताल है और जो कमरे हमें मिले है, वे प्रसूति के लिए हैं। इस ज्ञान से हम लोगों का बड़ा मनोरंजन हुआ। मनोरंजन के ये अवसर थके तन-मन को जैसे सहला जाते है।

सुना था, केन्द्रीय मंत्री दातार साहब इधर आ रहे हैं, इस कारण आगे का मार्ग ठीक हो गया है। एक मील की वह भयकर चढाई-उतराई अब नही करनी होगी। लेकिन दूसरे दिन सवेरे जिस समय हम मोड़ पर पहुँचे तो किसी ने बताया कि अभी मार्ग यात्रा के लिए नही खुला है। उस अंधकार मे दुस्साहस करने की शक्ति हममें नहीं थी। ऊपर से जाने का ही निश्चय किया। लेकिन जब उस ओर पहुँचे तो मालूम हुआ कि सड़क खुल गयी है। पर 'का वर्षा जब कृषि सुखाने'।

सवेरे का समय होने के कारण उस दिन जैसा कष्ट भी नहीं हुआ था। आगे का मार्ग और भी सुगम था। प्रसन्न मन चलते चले गये। कुछ ही देर बाद हमने एक चट्टी को देखा। पता लगा, हम मनेरी पहुँच गये है। आश्चर्य, इतनी शीघ्र कैसे आ गये! अब आ गये हैं तब आज ही क्यों न उत्तरकाशी पहुँचा जाये?

मोटर का राजमार्ग था। मनेरी में स्नान-भोजन के लिए रुके और फिर सचमुच पाँच बजे तक उत्तरकाशी पहुँच गये। दिन-भर चलते रहने के कारण अंतिम मील पार करना कुछ कठिन अवश्य हो गया। उत्तरकाशी के मकान दिखायी दे रहे थे, इसलिए रुक भी नहीं सकते थे। टट्टू के सामने लकड़ी में बाँधकर गाजर लटका दी जाती है, उसी की ओर मुँह उठाये वह थका जीव चलता चला जाता है। हम लोग भी इसी तरह चलते हुए बिड़ला धर्मशाला मे जा पहुँचे।

उत्तरकाशी पहुँच कर[1] ऐसा लगा, जैसे पर्वत-प्रदेश अब समाप्त हो गया हो। काफ़ी गर्मी थी। बहुत दिन के बाद घर के समाचार मिले, इसलिए प्रसन्नता का होना स्वाभाविक था। इसलिए और भी अधिक था कि सभी समाचार शुभ थे।

जो व्यक्ति ससार के कोलाहल से दूर प्रकृति के सान्निध्य में रहना चाहते हैं, उत्तरकाशी उनके लिए आदर्श स्थान है। न है भीड़ का कोलाहल और न प्रकृति का रुद्र रूप। है केवल हिमालय की प्राणदायक वायु और भागीरथी का अमृत जल। बस के आने पर भी उसका यह प्राकृतिक रूप बदला न जा सकेगा। कोलाहल अवश्य कुछ बढ सकता है, पर इतना नहीं कि मनुष्य अंतर की आवाज भी न सुन सके।[2]

मन यहाँ रहने को भी करता था और शीघ्र ही घर पहुँचने की आकांक्षा भी बलवती होती जा रही थी। अतत. एक बजे के पूर्व ही हम लोग रवाना हो गये। मेघ आकाश के पूरे विस्तार पर छाये हुए थे। ऊपर वर्षा भी हुई थी, इसलिए ऋतु मे मादकता थी। नाकुरी पहुँचने पर देखा, कि दातार साहब के स्वागत मे द्वार बने है। भीड़ भी उतावली-सी उनकी राह देख रही है। कुछ दूर आगे जाकर हमने दातार साहब के दल को आते हुए देखा। आठ जीपें थी। नौ डाँडियाँ पीछे-पीछे चली आ रही थी। प्राचीनकाल मे जैसे राजा-महाराजाओं को सुविधाएँ मिलती थी, कुछ वैसी ही सुविधाएँ आज के शासको को प्राप्त है। बदरीनाथ से लौटते हुए उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मत्री श्री कमलापति त्रिपाठी की शाही यात्रा का भी मैं साक्षी रहा हूँ। किसी सीमा तक यह अनिवार्य भी है, लेकिन उनका प्रयोग कुछ उदारता से ही किया जा रहा है। हम लोगों को देखकर उन्होंने 'जय गंगा मैया की' कहकर नारे लगाये। लेकिन जीप मे यात्रा करने वालो और पद-

1. 12 जून, 1958

2. 23 साल बाद यह आशा व्यर्थ हो रही।

यात्रियों की क्या मित्रता ? हम लोगों के लिए धूल का एक बवंडर छोड़कर वे आगे बढ गये। संध्या से पहले ही हम डूंडा पहुँच गये। धरासू के मार्ग पर यह एक महत्वपूर्ण बस्ती है। शीतकाल में यहाँ जाड़ लोग आकर रहते हैं, इसलिए यहाँ पर चाय और मिठाई की दुकानों के अतिरिक्त चाँदी के आभूषण बनाने वालों की दुकानें भी हैं। जाड़े के दिनों में यहाँ ऊन का काम होता है। लोग भेड़ें लेकर यहाँ आ जाते हैं और अच्छी कमाई कर लेते हैं।

धरासू तक बस की सड़क बन गयी थी। लेकिन परमिट तब तक किसी को नही दिया गया था। एक सरकारी ट्रक को हमने देखा तो उसके ड्राइवर से पूछा, "बसें कब तक चलेंगी ?"

उसने उत्तर दिया, "सड़क बिलकुल ठीक है। हम लोग ट्रक लेकर आते हैं। लेकिन बसों के लिए परमिट चाहिए। मेरा खयाल है, अगले सीज़न तक अधिकारियों की नीद खुल ही जायेगी।"

ड्राइवर व्यंग्य करना जानता है, क्योंकि भुक्तभोगी है। लेकिन सरकारी तंत्र व्यंग्य की चिन्ता नही करता। चिन्ता हमें थी। बस होती तो उसी दिन ऋषिकेश पहुँच गये होते। अब तो धरासू तक पैदल ही जाना होगा। इसलिए सवेरे घोरपड़े ने सदा की तरह तीन बजे उठा दिया। यदि जल्दी ही धरासू पहुँच सके तो वहाँ से नौ बजे की बस मिल जायेगी। लेकिन बोझियों ने आपत्ति की और समय पर नही पहुँचे। हम लोग आठ बजे पहुँच गये थे। नौ बजे की बस आयी और चली गयी। चालक भला था। कुछ देर राह देखता रहा, पर कब तक ? सब दौड़-धूप व्यर्थ हो गयी, लेकिन हर सुरंग के बाद प्रकाश होता है। ऋषिकेश की बस चली गयी तो हमें टिहरी जाने का अवसर मिल गया। दोपहर की बस टिहरी तक जाती है। दो बजे उसी से रवाना हुए। गर्मी तीव्र होती आ रही थी। मन रह-रह कर पीछे लौटने को करता था। लेकिन नगर का आकर्षण भी कम नही था। इसी समय हमने मोटर ओनर्स एसोसिएशन के जनरल मैनेजर श्री गोविन्दप्रसाद नेगी को देखा। वह हमें लेने डूंडा जा रहे थे। साथ में फल भी लाये थे—लीची, संतरे और आम। तीन हफ्ते के बाद फल देखकर मन गद्‌गद हो उठा।

संध्या तक हम टिहरी जा पहुँचे। वेदांत-केसरी स्वामी रामतीर्थ की यह लीला-भूमि है। भिलग पर्वत से निकलने वाली भिलगना और भागीरथी के संगम पर बसा हुआ यह एक सुन्दर पहाड़ी नगर है। आबादी तीन हज़ार के लगभग है। यहाँ पर प्राग-मुस्लिमकालीन मूर्तियाँ मिली हैं। उनसे मालूम होता है कि तब यह महत्वपूर्ण नगर रहा होगा। 1815 ईसवी में अँग्रेज़ों की कृपा से गढ़वाल राज्य के बचे-खुचे प्रदेश टिहरी को पाकर राजा सुदर्शन शाह ने अपनी राजधानी स्थापित की। 1819 ईसवी में यहाँ पर राजा का महल ही एकमात्र बड़ा भवन था। गर्मियों में यहाँ बहुत अधिक गर्मी होती है, इसलिए राजा प्रतापशाह ने

प्रतापनगर की स्थापना की। फिर कीर्तिनगर और अंत में नरेन्द्रनगर इसी दृष्टि से बसाये गये। टिहरी की श्रीवृद्धि समाप्त हो गयी। इसीलिए शायद उपेक्षित पथ-मार्ग सब धूल से अटे पड़े हैं।

नगर के मध्य में इस प्रदेश के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता श्रीदेव सुमन का स्मारक बना हुआ है। राजा की जेल में भूख-हड़ताल करके उन्होंने प्राणों का विसर्जन कर दिया था। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि राजा की आज्ञा से ही उनकी हत्या की गयी थी। सत्य क्या है, कोई नहीं जानता। परन्तु इस प्रदेश में यह निश्चय ही देवता की तरह पूजे जाते हैं।

हम लोग संगम की ओर चल दिये। अनेक पँड़ियाँ उतरकर जब हम वहाँ पहुँचे तो मन पुलक उठा। मार्ग में अनेक नारियाँ सर पर पानी के कलश रखे आती दिखायी दीं। सहसा कालिदास के भारत की याद हो आयी। हँसती-खिलखिलाती वे युवतियाँ शकुंतला और उसकी सखियों के समान दर्शक के मन को मोह लेती थीं। वह स्थान जहाँ भिलंगना भागीरथी में प्रवेश करती है, बहुत ही मनोरम है। संगम मनोरम होता ही है। शांत गंभीर गति से आती हुई भिलंगना जैसे भागीरथी की तीव्र धारा में आत्मसमर्पण कर देती है। कुछ क्षण के लिए भावों का उद्रेक जैसे तल पर आता है। फिर भागीरथी, अलखनंदा से मिलने के लिए दौड़ी चली जाती है। हम लोग तट पर बैठकर जल-प्रवाह को देखते रहे। कभी-कभी धारा में भी उतर जाते कि अकस्मात् ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यशपाल के एक परिचित बन्धु वहाँ आ गये। उनके साथ एक वयोवृद्ध पंडित पीताम्बर दत्त भट्ट भी थे। वह स्वामी रामतीर्थ के साथी रहे हैं। उन्होंने स्वामी जी के अनेक रोचक संस्मरण सुनाये। संन्यासी होने से पूर्व भी वह यहाँ आकर रहते थे। यहीं पर एक दिन शिखा-सूत्र का त्याग करके वह तीर्थराम से स्वामी रामतीर्थ बन गये थे।

> प्राणनाथ बालक सुत दुहिता, यों कहतो प्यारी छोड़ी,
> हाय वत्स ! वृद्धा के धन, यों रोती महतारी छोड़ी।
> चिर-सहचरी रियाजो छोड़ी, रम्य तटी रावी छोड़ी,
> शिखा-सूत्र के साथ हाय ! उन बोली पंजाबी छोड़ी।
>
> (माधवप्रसाद दीपक)

19वीं शताब्दी भारत में जिन महापुरुषों को जन्म देकर धन्य हुई, उनमें स्वामी रामतीर्थ भी है। उनकी विद्वत्ता, पागलपन, तन्मयता, स्नेह—सब कुछ अद्भुत था। निडरता की तो वह प्रतिमूर्ति थे। भट्ट जी ने बताया कि एक बार टिहरी-नरेश के बुलाने पर उन्होंने आने से इंकार कर दिया। कहला भेजा था, "राजा रूठेगा, अपनी नगरी रहेगा। हरि रूठेगा तो कहाँ जाऊँगा ?"

भट्टजी ने अत्यंत भावुक स्वर में कहा, "स्वामी राम बहुत स्वस्थ थे। प्रारम्भ

में वस्त्र पहनते थे। सोने के बटन भी लगाते थे, परिवार भी साथ था। बाद में सबको भेज दिया और स्वयं संन्यासी हो गये। वह बड़े कुशल वक्ता थे। जन-समूह को इच्छानुसार आंदोलित करने की शक्ति उनमें थी। क्षण-भर में ऐसा लगता था मानो सिंह गर्जन कर रहा है, दूसरे ही क्षण माँ की तरह करुण-कोमल होकर कहीं खो जाते। गंगा को वह 'प्यारी गंगी' और अपने को 'राम बादशाह' कहा करते थे। तैराक ऐसे थे कि कूदे नहीं कि दूसरा किनारा आया नहीं। बिना थके, बिना हांफे दौड़ते हुए पहाड़ पर चढ़ जाते थे। हिमालय के अनेक अगम्य मार्गों पर उनके चरण-चिह्न अंकित हुए थे। छायापथ से होकर यमनोत्री से गंगोत्री गये थे। एक दिन अचानक उन्होंने भिलंगना में समाधि लगा ली। ऐसा लगता है कि सदा की भाँति वह भिलंगना में कूदे, लेकिन भँवर में फँस गये। जब निकलना असम्भव हो गया तो समाधिस्थ हो गये। तीन दिन बाद उनका शरीर मिल सका। उस समय वह समाधि की अवस्था में थे। शरीर फूल गया था, परंतु चश्मा उसी तरह लगा हुआ था...।"

उनके संस्मरणों का कोई अंत नहीं था। अंत था दिन का। संध्या गहरा आयी। हम लोग शिमलासू न जा सके। वहीं तो उन्होंने समाधि लगायी थी। भट्टजी बोले, "आज इस बात का संकेत करने वाला कोई चिन्ह वहाँ नहीं है। कितनी लज्जा की बात है! महापुरुषों के गुणगान हम करते हैं, परन्तु उनके स्मृति-चिन्हों की चिंता हमें नहीं है। पश्चिम में महापुरुषों के काम में आने वाली छोटी-से-छोटी वस्तु को सुरक्षित रखा जाता है।...उन्हें विदा देने के लिए कितनी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। तिल धरने की जगह नहीं थी। राजा आये, रंक आये। जिस समय उनकी देह को उनकी प्यारी गंगी को अर्पित किया गया तो जन-समूह के नेत्रों से करुणा की एक और गंगा प्रवाहित हो उठी। उनका प्यार ही जैसे द्रवित होकर बह चला हो।"

इस पुण्य स्मरण से आत्म-विभोर होते हुए हम लोग लौट पड़े। अगले दिन सवेरे ही ऋषिकेश की ओर रवाना होना था। वही चिर-परिचित मार्ग है—चम्बा, नरेन्द्रनगर। जिस समय ऋषिकेश पहुँचे तो ग्यारह बज चुके थे।

पूरे चार सप्ताह बाद हमारी एक और यात्रा का अंत हो गया। लेकिन 'चरैवेति चरैवेति' जिनका लक्ष्य है, उनके लिए हर अंत एक नये आरंभ का पड़ाव-मात्र है। वैदिक ऋषियों ने गाया है :

> पुष्पिण्यौ चरतोजंघे भूष्णुरात्मा फले ग्रहिः।
> शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
> चरैवेति चरैवेति।

—जो व्यक्ति चलते रहते हैं, उनकी जंघाओं में फूल खिलते हैं। उनकी आत्मा

मे फलो के गुच्छे लगते हैं। उनके पाप थक कर सो जाते है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

अन्त और आरम्भ दोनो की कोई सीमा नही। लेकिन जब हम पडाव पर पहुँच जाते है तो सहसा व्यतीत मुखर हो उठता है। रह-रहकर हिमालय के उस भयानक सौंदर्य की, उन पावन दुर्गम स्थलो की याद आने लगती है और याद आने लगता है यात्रा का महत्व। वह केवल चरणों से चलना ही नही है। मन भी चलता है, बुद्धि भी चलती है, चित्त और अहंकार सब प्रगति करते हैं। यह सृष्टि का विकास है। लेखक के नाते जब अपनी पूँजी के भंडार को देखता हूँ तो आश्चर्य होता है। उसका उपयोग कर पाऊँगा भी या नही और सही-सही कर पाऊँगा, इसमें संदेह है। पर इसमे सदेह नही कि तन-मन सब धुलकर निखर गया है, जैसे अजस्र वर्षा के बाद प्रकृति निखर उठती है। सारी थकान, सारी ग्लानि जैसे धुल जाती है। उस अगम्य शिखरों पर जब पर्यटक के चरण-चिन्ह अंकित होते है तो उसका अहं एक ओर आकाश को छूता है तो दूसरी ओर विनम्र होकर हिम-सरिताओ के जल का परस भी पाता है। एक ओर अपने को महान समझने लगता है तो दूसरी ओर क्षुद्रातिक्षुद्र होने का आभास भी होता है। वह एक साथ महान और लघु, विराट और वामन हो उठता है। महान-से-महान कार्य करने की क्षमता उसे प्राप्त होती है, परन्तु उसमे अहकार का दंश नही रहता। उसे यह मान भी नही होता कि उसने सचमुच कुछ महान कार्य किया है। यही योग की स्थिति है और यही जीवन-काल को जीने का सही मार्ग है।

प्राचीन काल में आश्रम-जीवन का यही लक्ष्य था। दुर्भाग्य से आज वह धर्म के साथ जुड गया है—उस धर्म के साथ जो वर्गों मे बँटा हुआ है, जिसे 'मत' कहते है। लेकिन वस्तुत' प्रकृति के सान्निध्य मे बने हुए प्राचीन आश्रम मनुष्य को यही सीख देते है कि महान से जो महान है, वही मनुष्य का लक्ष्य है। लेकिन जब तक 'मैं' तिरोहित नही हो जाता तब तक वह लक्ष्य प्राप्त नही होता। प्रकृति का सान्निध्य उसी 'मैं' को रूपांतरित करता है।

प्रकृति का सान्निध्य शरीर मे स्फूर्ति भी भरता है। वह स्फूर्ति उसे आकाश-पातालगामी पथरीले मार्गों पर चलने के परिश्रम से, हिम-शिखरों के इंद्रधनुषी सौंदर्य से, नाना पुष्पो-औषधियो की सुगंध से मतवाले वायु के सजीवनी स्पर्श से, कलकल-छलछल करते पावन स्रोतो के सगीत से, क्षण-क्षण मे इंद्रधनुषो का निर्माण करते आकाश के विस्तार पर छाये सघन वाष्प-संकुल मेघों के तुमुल नाद से प्राप्त होती है। उसको प्राप्त करके सृजन के नये-नये आयाम कला और साहित्य के उपासकों के सामने खुल जाते हैं।

पर्यटन हर दृष्टि से उपयोगी है। उसी के लिए हम भी प्रति वर्ष इन प्रदेशों में भ्रमण करने आते हैं। एक ऐसी ही यात्रा का पड़ाव आ पहुँचा है। लेकिन यह

अंत नहीं है। अभी लक्ष्य तक कहाँ पहुँच पाये हैं? तब तक हमारा मंत्र है—
चरैवेति चरैवेति, क्योंकि—

> चरन्वै मधु विन्दति, चरन्स्वादुमुदम्बरम्।
> सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं, यो न तंद्रयते चरन्॥
> चरैवेति चरैवेति...।

—चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है, चलता हुआ मनुष्य ही स्वादिष्ट फल चखता है। सूर्य का परिश्रम देखो, नित्य चलता हुआ वह कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

आखिर दूसरी बार की यात्रा का भी अन्त आ पहुँचा है। सवेरे आँख खुली[1] तो मौसम साफ़ था। रात चाँद ने भीतर आकर हमें आश्वस्त कर दिया था। सो तुरन्त सामान सँजोया। तैयार होकर चाय पी और हवलदार से कह कर भैरों घाटी सन्देश भिजवाया जीप के लिए।

चलने से पूर्व मन्दिर जाना आवश्यक है। जल का पूजन करवाना है, पर वहाँ तो पण्डाजी बिगड़े बैठे हैं। यहाँ के परम्परागत पण्डों और महात्माओं में संघर्ष है। पण्डे कहते हैं, "महात्माओं ने पुरी को भ्रष्ट कर दिया है। यहाँ छह महीने देवता रहते थे। अब ये गोमुख तक बस गये हैं। हमारी कमेटी बेकार है।"

यह विशुद्ध आर्थिक प्रश्न है। स्वामी जी न होते तो ये पण्डे लोग हमको खूब दूहते...।

ग्यारह बजने को है, आँखें उस पार मार्ग पर लगी हैं। न जीप है, न बस। धूप जा रही है। आकाश घिर रहा है। बादलों ने शिखरों पर आक्रमण शुरू कर दिया है। वन शान्त है। भागीरथी निरन्तर संगीत-साधना में लगी है।

आखिर सन्देश आया। मार्ग अवरुद्ध है। वाहन न आ सकेगा। भार-वाहक को सामान सौंप कर हम पैदल चल पड़ते हैं। मोटर का राजमार्ग है। कहीं भी तो असुविधा नहीं है। प्राकृतिक वैभव मुक्त होकर हमारा स्वागत करता है। कहीं कोई यात्री नहीं है।

देखते हैं कि एक विशाल वृक्ष पूरे मार्ग को घेर कर लेटा है। उसी को हटाने में लगे हैं मजदूर। भैरों घाटी मात्र पाँच मील है। दो घंटे भी नहीं लगे। घर जा रहे हैं न। चट्टी पर बस, जीप—सब है। हम यहाँ रुकते नहीं। नीचे उतरने लगते हैं और उस सुरम्य वातावरण में पुल पार करके चढ़ाई पर आ जाते हैं।

---

1. 26 सितम्बर, 1970

लका में बस हमारी राह देख रही है। हवलदार विनम्र भाव से सेवा में उपस्थित है। अपने बच्चे की चर्चा करता है। न जाने कौन-कौन विदा देने को आतुर है। स्वामी जी ने सबको बता दिया है।

बस में गीत के स्वर गूंज उठे हैं। मार्ग में नीचे उतरते भेड़ों के दल, भैंस, गाय और गूजर यहाँ-वहाँ मिलते हैं। वर्षा के कारण इधर का बस-मार्ग कीचड़ से भरा है।

पिछली बार हरसिल में रुके थे, गगनानी में रुके थे, उसके अगले दिन भटवारी पहुँचे थे। आज हमारी बस सीधे भटवारी जाकर रुकी। सात बज चुके थे। अधिशासी अभियन्ता श्री खेर से परिचय हो चुका था, लेकिन अस्वस्थ होने के कारण वे उत्तरकाशी के अस्पताल में थे। उनकी पत्नी यहीं थी। हम डाकबँगले में उनके अतिथि बने।

यहाँ मेरे गाँव की बेटी भी है, हमारे मित्र की बहन। उनके पति बहुत खुश-दिल है। रात को उन्हीं के साथ खाना खाया। भागीरथी के किनारे बसे हैं सब लोग। सब कुछ रोमाचक लगता है। अँधेरे में तो और भी अधिक। वे इस प्रदेश को भौतिक दृष्टि से भी वैभवशाली बना देना चाहते हैं।

रात हम सब गहरी नींद में सोये। इस सुख में पैरों की पीड़ा भी कहीं खो गयी।

सवेरे साढ़े आठ[1] तक तैयार हो गये। गरम पानी मिल गया था। श्रीमती खेर जीप से जा रही हैं। हमें भी उन्हीं के साथ जाना है।

डाक-बँगला सुन्दर स्थान पर बना है। पीछे हरी-भरी पहाड़ी है, गाँव है। नीचे निर्माण विभाग की बस्ती है। उसके बाद भागीरथी है और फिर हरी-भरी पहाड़ी है। धूप में जैसे मखमल बिछी हो। आकाश की नीलिमा में श्वेत मेघ साबुन के फेन-से फैले हैं।

और बँगले के आँगन में नाना रूप पुष्प डेलिया, बेगिया और जगली गुलाब खिले हैं।

वही राजपथ। जीप से मनेरी पार करके हम उत्तरकाशी पहुँच गये। पहले अस्पताल में श्री खेर से भेंट की। फिर पहुँच गये अपनी चिरपरचित बिड़ला धर्मशाला। चौकीदार तो मित्र बन गया है। सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखता है।

जिलाधीश श्री गगाराम से भेंट की। चाय श्री नेमीचन्द के साथ पी। सार्वजनिक जीवन के सक्रिय कार्यकर्ता हैं। कुछ और मित्रों से भेंट की और रात का

1. 27 सितम्बर, 1970

भोजन किया संस्थान के प्रिंसिपल कर्नल जे० सी० जोशी के साथ। उनकी पत्नी श्रीमती पुष्पा जोशी ने बड़ी आत्मीयता के साथ खिलाया। कितना अच्छा लगा!

रात नींद में ये ही सुखद स्मृतियाँ स्वप्न बन कर रिझाती रहीं। सवेरे[1] टिहरी की ओर जाना है, लेकिन अब जल्दी कैसी? चौकीदार एक खिलौना भेंट करता है। उसकी भाभी की पेंशन का मामला कहीं अटका है। हम प्रभावशाली व्यक्ति कुछ सहायक हो सके तो आभार मानेगा।[2]

मैं यथाशक्ति करने का वचन देता हूँ। सुशीला ऊनी वस्त्र और खिलौने खरीदने में व्यस्त है। सबको निशानी देनी है न उसे।

स्वामी जी को तुरन्त नैनीताल पहुँचना है। हम अपने चिरपरिचित मार्ग से टिहरी पहुँच जाते हैं। जाते समय भी यहाँ दो दिन रुके थे। अब तो रुकने का और भी कारण है। न सही मन, तन की थकान तो है।

स्वामी जी नहीं रुकते। हम ऊपर आकर आराम करते हैं। अब और काम भी क्या है? स्वामी राम की भिलगना और उनके स्मारक के दर्शन तो जाती बार कर चुके थे। बारह वर्ष पूर्व और आज की टिहरी में विशेष अन्तर नहीं है। भौतिक सुख-सुविधाएँ बढ़ी हैं। अब बाँध बाँधने की योजना रूप ले रही है। पूरी होने पर पुराना नगर डूब जायेगा। नयी टिहरी नये स्थान पर जन्म लेगी नयी समृद्धि के साथ।

एक प्रकार से यात्रा का अन्त यहीं होता है। यूँ 30 तारीख तक हम यहीं रहे। दिन भर मौसम आँख-मिचौनी खेलता। सन्ध्या को कहीं घूम आते। कभी तेज वर्षा, कभी झंझावात तो कभी निर्मल आकाश। घाटी में तेज वर्षा और शीतल पवन दोनों ही सहज हैं। वैसे ही सहज है पहाड़ी आकाश का बँटा रहना। एक ओर अंधकार की चादर तनी है तो दूसरी ओर तारे जगमग-जगमग कर रहे हैं।

हमने कहा, एक और यात्रा का अन्त हुआ। पर जो अन्त है वहीं से दूसरी यात्रा का आरम्भ होता है। विश्रान्ति कहाँ?

जीवन यही है। लेकिन यात्राएँ मात्र इसी जीवन से साक्षात्कार नहीं करातीं। उन अज्ञात स्थानों की ओर भी ले जाती है जो हमारे भीतर हैं।

बँटे हुए पहाड़ी आकाश की तरह क्या हमारा जीवन भी बाहर और भीतर— इन दो भागों में नहीं बँटा है?

इन दोनों भागों को एकाकार कर सके उस यात्रा का अभी हमें इंतजार है। इसलिए चरैवेति, चरैवेति—चलते रहो, चलते रहो।

---

1. 28 सितम्बर, 1970
2. संयोग से उसका यह काम हो गया था।

जन्म निश्चित है, मृत्यु निश्चित है, इसी प्रकार यात्रा का आरम्भ और अन्त भी निश्चित है, भले ही वह अन्त आह्वान हो अगली यात्रा के लिए।

भोर[1] में जब आँख खुली तो निश्चय किया कि सबसे पहले तपोवन-कुटीर चलेंगे, पर स्वामी जी न जाने कहाँ चले गये थे। नहीं मिल सके। उनके सुप्रसिद्ध देवदार के नीचे हमारा सामान सुरक्षित था। हम बहिष्कृत हो चुके थे, घर से भी, मन से भी। मन न जाने कैसा-कैसा हो आया। यहीं क्षमा नहीं मिल सकती तो कहाँ मिलेगी ?

कर्मकाण्ड में मेरी विशेष रुचि नहीं है। वैसा आस्तिक मैं नहीं हूँ, परन्तु स्वर्गीया पत्नी सुशीला प्रभाकर की पावन-स्मृति को और पावन करने के लिए आज मैंने साथी के साथ विधिवत शोडषोपचारपूजा की। मानता हूँ, यह मन की दुर्बलता है और दुर्बलता अन्धविश्वास को जन्म देती है। ऋषिकेश में स्वामी जी की कल्याण कामना करते हुए भी मैं इस दुर्बलता का शिकार हो गया था। कभी-कभी दुर्बल हो रहना भी कितना अच्छा लगता है। कमलेश जी ने बड़े प्रेम से पूजा सम्पन्न करवायी। दूसरे यात्री हमें विशिष्ट जन समझने लगे। मेरी खद्दर की पोशाक भी अनेक भ्रम पैदा कर देती है।

आज के भोजन के लिए मन्दिर के भडार से निमन्त्रण था। अँधेरे कक्ष में जमीन पर बैठ कर पहाड़ी मित्रों के साथ भोजपत्रों पर भोजन करना बहुत अच्छा लगा। हलवा था। मीठे और फीके दोनों प्रकार के चावल थे। किसी सेठ का अनुग्रह है यह। हम पाने के लिए निरन्तर देते रहते हैं, लेकिन इस देने और पाने के पीछे पाप-पुण्य का जो लेखा-जोखा है, उसकी चिन्ता कौन करता है ? किसी भी मार्ग से, कैसे भी हो, जो हमने पाया है उसे पावन करने के लिए, श्याम को श्वेत करने के लिए, हम दान और कर्मकाण्ड का उपयोग करते है। हम सब सहभागी है कहीं-न-कहीं इस दुष्चक्र में। इसीलिए तो तीर्थों में हर दुकानदार भक्तों को नोचने की चिन्ता में रहता है। जोशी जी नहीं थे तो भोजन वाले ने पैसे अधिक ले लिये। साधु दोनों ओर से ठगते है, श्रद्धा के नाम पर भी और सुख-सुविधा के नाम पर भी। काम, क्रोध, मद, लोभ कलियुग में शत्रु नहीं, मित्र होते है।

दूसरे दिन[2] की सारी व्यवस्था कमलेश जी ने स्वय की। गंगाजली में जल भर कर और विधिवत पूजा करके उसे सील करवा दिया। गंगा-स्नान के बाद उन्हीं के साथ नाश्ता किया। उनकी व्यथा-कथा सुनी। वे लोग सीमान्त प्रदेश के रहने वाले हैं। सुक्खी से ऊपर मुखवा, झाला, जसपुर, पुराली, हरसिल, धराली— सब सीमान्त गाँव हैं। चीन के आक्रमण से पूर्व उनका तिब्बत से नमक, ऊन, आटा, चावलादि का खूब व्यापार चलता था। सम्पन्नता थी, पर उसके बाद व्यापार के

1. 8 अक्तूबर, 1981
2. 9 अक्तूबर, 1981

सारे मार्ग समाप्त हो गये। विपन्न होकर रह गये वे एक दिन में। अभाव और असुविधाओं में जी रहे हैं वे पिछले पच्चीस वर्षों से। शिक्षा का भी विशेष प्रबन्ध नहीं है। हरसिल में स्कूल का भवन नहीं है। कोई सुविधा नहीं। ग्यारह-ग्यारह मील से बच्चे पढ़ने आते हैं। छात्रावास हो तो कितना लाभ हो। कई बच्चे और अध्यापक इन्हीं सुविधाओं के अभाव में असामयिक मृत्यु का शिकार हो चुके हैं।

अस्पताल कहीं-कहीं हैं, पर आवश्यक सुविधाओं के अभाव में उनका होना या न होना कोई अर्थ नहीं रखता। तार-टेलीफ़ोन की भी यही स्थिति है। बिजली बस दो घण्टे के लिए मन्दिर के सीमित क्षेत्र में उपलब्ध है। उनके प्रखण्ड में किसी भी क्षेत्र से कोई विशिष्ट जन नहीं है। सुख-सुविधा के नाम पर जो पैसा आता है उसका लाभ साधारण जन को नहीं मिलता। वे चाहते हैं कि भारत सरकार उनकी कठिनाइयों को समझे और उन्हें गिरिजनों जैसी सुविधाएँ उपलब्ध करायें। एक और समस्या है यहाँ। स्थानीय लोग शिक्षा के अभाव में ऊंचे पद पा नहीं सकते। अफ़सर आते हैं बाहर से। उससे भीतर-ही-भीतर एक अनचाहा सघर्ष जन्म लेता है।

उनकी कथा सुनते-सुनते मुझे श्रीनवीन जोशी[1] के ये शब्द याद हो आये :

> "आज का पहाड़ मुझे घुघते के उस घोंसले की तरह लगता है—धीरे-धीरे ख़ाली और उजाड़ होता हुआ, भीतर-बाहर से टूटता हुआ।...कभी हम अपने दोस्तों से बड़े गर्व के साथ पहाड़ के मोहक-प्राकृतिक सौन्दर्य की चर्चा करते। प्रात. उगते सूर्य की स्वर्णिम आभा से स्वर्णिम होते हिमशिखरों का बखान करते, सूर्यास्त के वक़्त रंग-बिरंगे पश्चिमी क्षितिज की अद्भुत पेंटिंग करते। वहाँ की ठण्डी हवा, ठण्डे पानी, फल-फूल तथा हिमपात के स्वर्गीय आनन्द के लिए दोस्तों को ललचाते...(पर अब) अपने पहाड़, अपने गाँव और अपने लोगों को देखने की अपनी नज़र में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ आ गया। मैंने पाया, मेरे गाँव में कहीं जीवन नहीं रह गया है। जीवन के नाम पर विवशता फैली हुई है। उम्र गुज़ार देने की विवशता।"

इस बार पग-पग पर इस सत्य को देख सका, लेकिन इसी के साथ ही सुन सका दूर से आता जागरण का एक स्वर, नारीशक्ति का स्वर।

अपनी कथा के सन्दर्भ में उन्होंने एक घटना की चर्चा भी की। पहली यात्रा में भी देखा था और इस घटना ने उसे और उजागर कर दिया। यहाँ के साधु और पण्डे एक-दूसरे को देख नहीं सकते। विशुद्ध आर्थिक प्रश्न है, इसलिए कोई भी घटना उनके सचित द्वेष को भड़का दे सकती है। इस बार एक सुप्रसिद्ध स्वर्ग-

1. देखें उजाला, लखनऊ, पृ० 2, साक्षरता निकेतन का मुख-पत्र।

वासी सन्त की शिष्या ने कमलेश जी की तथाकथित भूमि पर बरबस अधिकार कर लिया। इस प्रक्रिया में शक्ति का प्रयोग अनिवार्य था। दोनों दलों का विवरण सुना हमने, पर उसमें जो महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि शिष्या का पक्ष लेकर मारपीट के अभियोग में स्थानीय पुलिस इंस्पेक्टर ने कमलेश जी को गिरफ्तार कर लिया। सुना है ऐसा करने के लिए वह जूते पहने मंदिर में घुस गये और पूजा करते हुए कमलेश जी के हाथों में हथकडी डाल दी। इसी स्थिति में उन्हें उत्तरकाशी ले जाया गया।

यह समाचार देखते-देखते आग की तरह सारी घाटी मे फैल गया। और उसने एक ऐसे आन्दोलन को जन्म दिया जिसमें महिलाएँ अग्रणी थी। महिलाएँ यहाँ सदा आगे रहती है। वही भारवाहिका से लेकर स्वामिनी तक की भूमिका निभाती हैं। सो इस सघर्ष मे भी वे प्रमुख हो रही है। दल बना-बना कर वे घर-घर घूमी और उन्होने लोगों के स्वाभिमान को जगा दिया। पुरुष अब भी हिचक रहे थे, पर युवतियो के साहस की सीमा नही थी। उन्होंने पुलिस इंस्पेक्टर को उसके घर में घुसकर गिरफ्तार कर लिया। इस घटना ने अधिकारियों को झकझोर दिया। कमलेश जी मुक्त हो गये। उनकी भूमि उन्हे मिल गयी और पुलिस इंसपेक्टर को लाइन भेज दिया गया।

एक प्रश्न उभर आया यह सुनकर। क्या यहाँ 'चिपको आन्दोलन' को एक व्यापक रूप नही दिया जा सकता? एक व्यापक आर्थिक-सामाजिक आन्दोलन का रूप। यह शिव का प्रदेश है तो शक्ति की लीलाभूमि भी यही है। महात्मा लोग जिस पुण्य भूमि के रूप-वैभव, शांतिपूर्ण तथा आध्यात्मिक वातावरण की मोहिनी का वर्णन करते नही थकते, जहाँ बिना किसी भेद-भाव के प्रकृति की दिव्य हिम-सुन्दरता के दर्शन से उत्पन्न एक विचित्र आनन्द रस में निमग्न होकर, मन संकल्प-विकल्पों से हीन होकर, एक समाहित दिशा की ओर उठ जाता है वहाँ, आजकल इस तरह की घटनाएँ घटें तो मानना पडेगा कि सांसारिक मनुष्य का मन आध्यात्मिक से अधिक भौतिक मूल्यों मे प्रभावित होता है। भौतिक मूल्य ही सभ्यता का निर्माण करते हैं। इन मूल्यों से निरपेक्ष हो सके वह महद् मन वातावरण ही नही, संस्कार की भी अपेक्षा करता है। वही संस्कार हममे छूट गया है। वह संस्कार संसार से भागने से नही, उसमें रह कर उससे ऊपर उठने के लिए सतत संघर्ष करते रहने से प्राप्त होता है। प्रकृति का रूप-वैभव उसे तभी शक्ति दे सकता है जब उसमे उसे ग्रहण करने की क्षमता हो। सन् 1958 मे यहाँ से लौटते हुए मैंने लिखा था—"विदा हे स्वर्ग। मृत्यु-लोक का बुलावा आ गया है। वही कलह, कलक, विद्वेष, मालिन्य, व्यापारिक स्नेह, आयातित शिष्टाचार, और उपेक्षित आत्मीयता—लेकिन आज 1981 मे ऐसा कहने का साहस मुझमें नही है। इसलिए भौतिक और आध्यात्मिक दोनों मे संतुलन और समन्वय साधना होगा हमें...।

कमलेश जी ने बस की व्यवस्था कर दी है, पर बहुत भीड़ है उसमें। तब भी वह चल नही रही। यात्री उग्र हो उठे है और नाना रूप सुनी-अनसुनी कथाओं से वातावरण को क्षुब्ध बना रहे है। मेरी वेशभूषा भी एक मित्र को उत्तेजित करती है, "मंत्री जा रहे है हमारी बस में, तभी रुकी है वह।" मेरे पास एक सेठ आकर बैठ गये है। पूछते हैं, "आप उत्तर प्रदेश के रहने वाले है?" मैं दीर्घ निश्वास लेकर कहता हूँ, "अब तो कही का रहने वाला नही हूँ।" वे न जाने क्या समझते हैं, बोल उठते हैं, "तीर्थ मे क्रोध नही करना चाहिए।"

मन-ही-मन हँस आया। कोई उत्तर नही दिया। तभी चालक आ गया। वह पूजा में था। अग्निरूप बंगाली दल ने खूब लताड़ा उसे, लेकिन वे सेर तो वह सवासेर। बस के चलने मे ग्यारह बज गये। भैरों घाटी की उतराई-चढ़ाई के बाद जब लंका पहुँचे तो बारह बज चुके थे। बस मे स्थान शेष नही था। किसी तरह मैं बीच मे एक थैले पर बैठ पाया। साथी को खड़े रहना पडा। हरसिल में *मुझे सीट मिल गयी, पर साथी को अब भी फ़र्श पर ही बैठना पड़ा।* तेईस वर्ष पूर्व जिस मार्ग के सौदर्य का वर्णन करते नही थकते थे हम अब उसे देखने का सुयोग तक न पा सके। लेकिन तभी एक मित्र ने पूछ लिया, "आप क्या लेखक विष्णु प्रभाकर हैं?"

प्रश्न गुदगुदा गया, उत्तर दिया, "जी हाँ।"

उनकी बेटी ने पूछा, "क्या 'आवारा मसीहा' वाले?"

उसी आवेग मे मैंने कहा, "जी हाँ।"

एक क्षण में तन-मन का तनाव जैसे तिरोहित हो गया हो। तभी आदेश हुआ —कुछ देर पैदल चलना होगा। सडक अभी भी खराब है।

ऐसे एक-दो क्षेपकों को छोडकर यह वापिसी अत्यन्त विरस हो रही। उत्तर-काशी मे एक बार फिर कैलाश आश्रम मे ठहरना अच्छा लगा। सामने वही चिरपरिचित दृश्य था—पहाड़ी अधकार में यहाँ-वहाँ टिमटिमाते प्रदीप और उस अँधेरे प्रकाश को चीर कर उठता भागीरथी का अनवरत कल-कल नाद।

दूसरे दिन[1] आशा के विपरीत किसी से भेंट न हो सकी। जाने से पूर्व स्थानीय महाविद्यालय के प्राध्यापक आग्रह कर गये थे कि लौटने पर एक गोष्ठी में भाग *लेना होगा, पर अब देखता हूँ उनमे जो मुख्य थे वे स्वय बाहर चले गये है। उनमें* एक महिला श्रीमती आशा जुगरान भी थी। उनके घर पर उनके ससुर से मिलना निश्चय ही एक उपलब्धि थी। रक्तचाप से पीड़ित थे। बोलना तक मना था, पर हमारा परिचय पाकर जैसे उनका यौवन लौट आया। हिन्दी के सुलेखक रहे है। राहुल जी के हाथ से मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त कर चुके है। स्वतत्रता

1. 10 अक्तूबर, 1981

संग्राम के सक्रिय सेनानी भी रहे है। उन सस्मरणों का कोई अन्त नही था। पुस्तकें, पत्र, चित्र—सब सुरक्षित हैं उनके पास। एक इतिहास छिपा है उनकी छाती मे। उसी का यत्किंचित आभास मिला हमे। ऐसी स्थिति मे भी वे आशा जी को बुला कर ले आये। फिर चाय पर देर तक बातें होती रही।

लौटते समय निश्चय किया कि भोर मे ही हरिद्वार की बस पकड़नी है। स्वामी जी के विना सब विरस है यहाँ। लेकिन रात मे जब कुछ देर के लिए बिजली चली गयी तो पिया मिलन के लिए आतुर भागीरथी की चचल लहरो पर चाँदनी को नाचते देखकर, मन आह्लाद से पुलक-पुलक उठा। आदिम युग में इसी तरह गुहा-मानव ने लहरों और चाँदनी का नृत्य देख कर सौंदर्य, सगीत और नृत्य की भूमिका को आत्मसात किया होगा। काश मैं उस युग में पहुँच सकता और उन मांसल अनुभूतियों को जी सकता!

भोर[1] के तड़के हरिद्वार की बस में बैठे तो मन सहसा तरल हो आया। बहुत मूल्य चुकाना पड़ा इस वार तपोवन के दर्शन के लिए, पर यह भी सत्य है कि साहित्यकार कभी कुछ खोता नही। हर दर्द उसकी पूँजी है। वाल्मीकि क्रौंच वध के समय दर्द सहने की जिस यातना मे से गुज़रे थे वही यातना तो राम-कथा के सृजन का आधार बनी थी। सो स्वस्थ मन, उमड़ते आँसुओं को रोकते हुए मैने कहा, "विदा उत्तरकाशी, विदा गंगोत्री, गोमुख, तपोवन! विदा स्वामी जी, तेईस वर्ष के मीत...!"

नहीं, विदा नही। जब तक महाप्रस्थान के पथ पर चलने का आदेश नहीं हो आता तब तक विदा कैसी? स्वागत उन सबका, स्थानो, व्यक्तियो और अनुभवों का, जो इस यज्ञ की समिधा बने और बनते रहेगे।

---

1. 11 अक्तूबर, 1981

परिशिष्ट

गंगा काँठे की संस्कृति

गंगा की गाथा भारत की गाथा है। भारत की आत्मा के ऐश्वर्य और मन-प्राण की इच्छाओं-आकांक्षाओं और अरमानों की गाथा है। गंगा भारत है, भारत गंगा है। अमरीका मिसौरी-मिसिसिपी को प्यार करता है, ब्राज़ील अमेजन को प्यार करता है, मिस्र नील को प्यार करता है, रूस वोल्गा को प्यार करता है, लेकिन भारत गंगा को प्यार भी करता है और उसकी पूजा भी करता है। भारत गंगा को माँ कहता है—माँ जो सबसे प्यारा शब्द है, जो ईश्वर का प्रतीक है। गंगा-मैया भारत को न केवल पालती है, बल्कि उसके पापों को भी बहा ले जाती है। वह पतित-पावनी है।

गंगा के तट पर वैदिक ऋचाओं से गुंजरित आश्रम पनपे व आर्यों के बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। गंगा ने व्यास और वाल्मीकि का मधुर संगीत सुना। बुद्ध और महावीर का त्याग देखा। अशोक और समुद्रगुप्त की जय को प्रतिध्वनित किया। कालिदास और तुलसी की कविताओं में प्राण फूंके। गंगा ने पौराणिक साहित्य के भंडार को भरा। वे प्रतीक कथाएं न जाने कैसे-कैसे इतिहास को वक्ष में छिपाये हैं।

कहते हैं, गंगा देव-सरिता थी। आवश्यकता पड़ने पर कभी देवताओं ने उसे उसके पिता हिमवान से माँग लिया था। तब से वह देवलोक में ही रहती थी। एक बार वह ब्रह्माजी की सभा में उपस्थित हुई। अचानक समीर का झोंका आने से उनका वस्त्र कुछ ऊपर उठ गया। देवताओं ने लजाकर सिर झुका लिया। पर राजर्षि महाभिष स्तम्भित-से उस रूप को देखते ही रह गये। पितामह इस धृष्टता पर कुपित हो उठे। उन्होंने शाप दिया—तुम दोनों मृत्यु-लोक में जाकर जन्म लो।

कालांतर में यही राजर्षि महाभिष कुरु-कुल के सम्राट शांतनु हुए और गंगा हुई उनकी पत्नी। इनके गर्भ से शापग्रस्त आठ वसुओं ने जन्म लिया। पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार गंगा ने सात वसुओं को जन्मते ही मुक्ति दे दी।

वसु के जन्म के समय शांतनु ने प्रार्थना की कि वह उस शिशु का वध न करे। तब गंगा ने राजा को वसुओं के शाप की कहानी कह सुनायी। आठवें वसु के अपराध के कारण उन सबको धरती पर आना पड़ा था। गंगा ने सात वसुओं का वध करके इसी कारण उन्हें मुक्ति दी थी। विवाह करते समय उसने राजा से कह दिया था—"जिस क्षण भी आप मुझे कोई काम करने से रोकेंगे मैं आपको छोड़ कर चली जाऊँगी।"

यह कथा सुनकर राजा बहुत दुखी हुए। पर गंगा तुरन्त वहाँ से चली गयी। आठवें वसु को भी अपने साथ लेती गयी। गंगादत्त और देवव्रत के नाम से यही वसु शिक्षा पाकर पिता के पास लौट आया। बाद मे जब उसके पिता शांतनु ने धीवर कन्या सत्यवती से विवाह किया तब उसने आजन्म ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करने की भीष्म-प्रतिज्ञा करके 'भीष्म' का वरद पाया। ये ही गांगेय भीष्म कौरव-पांडवों के पितामह थे। काका साहब कालेलकर के शब्दों मे—"गंगा कुछ भी न करती, सिर्फ़ देवव्रत भीष्म को ही जन्म देती तो भी आर्य जाति की माता के तौर पर वह आज प्रख्यात होती।"

भीष्म के समान 'भगीरथ-प्रयत्न' की कहानी भी लोक-प्रसिद्ध है। सूर्य-वंश में एक प्रतापी राजा थे सगर। उन्होने अश्वमेध करने का निश्चय किया। यज्ञ का घोड़ा मुक्त भाव से भूमंडल मे घूम रहा था। कोई उसे रोकने वाला नही था। यह देखकर देवताओ का राजा इन्द्र डर गया और उसने घोडा चुरा लिया। सगर के साठ हजार बेटे उसे ढूँढ़ने निकले। धरती पर घोड़ा नही मिला। उन्होने धरती को खोद डाला। पाताल में उन्होंने घोड़े को देखा। पास ही एक ऋषि बैठे थे। चोर समझ कर राजकुमार उसे मारने दौड़े। पर वे आगे बढते कि ऋषि की आँखों से एक ज्वाला निकली और वे साठ हजार राजकुमार राख का ढेर बन गये।

बहुत दिनों बाद सगर का पोता अंशुमान उन्हे खोजता हुआ वहाँ आया। उसे अपने चाचाओ को जलांजलि देने के लिए जल तक न मिला। उस समय आकाश में गरुड उडते हुए कही जा रहे थे। पुकार कर उन्होंने कहा, "हे पुरुष सिंह, हिमवान की बड़ी कन्या गंगा देव-सरिता के रूप में स्वर्ग मे निवास करती है। उसी के जल मे तुम अपने पितरो को जलांजलि दो। वह पतित-पावनी गंगा जब इनकी भस्म को अपने जल से प्लावित करेगी तभी ये वीर स्वर्ग जा सकेंगे।"

घर लौटकर अंशुमान ने सारी कथा अपने दादा को सुनायी। यज्ञ समाप्त करने के बाद वे गंगा की खोज मे निकल पड़े। परन्तु सफल नही हो सके। उनके बाद अंशुमान और फिर अशुमान के पुत्र दिलीप ने घोर तप किया, गगा को धरती पर लाने के लिए। सारा ब्रह्माड काँप उठा, पर ब्रह्मा पर उस तप का तनिक भी असर नही हुआ। गगा उनके कमण्डल में बद थी, वही बंद रही। उसके बाद

दिलीप के पुत्र भगीरथ ने और भी घोर तप किया। एक हजार वर्ष तक भुजाएँ ऊँची किये वह साधना मे लीन रहे। देवता डर गये। उन्होंने अप्सराओं को भेजा कि वे अपने रूप माधुर्य से भगीरथ का तप भग करें, पर भगीरथ अडिग रहे। आख़िर ब्रह्मा का आसन डोला और उन्होंने भगीरथ को आशीर्वाद दिया कि हिमवान की बेटी गंगा धरती पर आयेगी। उन्होंने यह भी कहा कि उसका वेग संभालने की शक्ति केवल शंकर में है, इसलिए भगीरथ को पहले उन्हें प्रसन्न करना चाहिए।

भगीरथ ने ऐसा ही किया। शंकर प्रसन्न हुए और जिस समय गंगा धरती पर उतरी उस समय ऐसा लगा कि जैसे असंख्य बिजलियाँ क्रुद्ध हो उठी हो। आकाश काँप उठा, धरती डगमगाने लगी। और देखते-देखते गगा शिव की जटाओं मे खो गयी। भगीरथ ने देखा कि शिवशंकर क्रुद्ध हो उठे है, गंगा को उनकी जटाओं से बाहर आने का रास्ता नही मिल रहा है तो वह विचलित हो उठा। तब शिव बोले, "चिन्ता मत करो, वत्स ! गंगा को अभिमान हो गया था कि उसका वेग कोई नही सभाल सकता। इसलिए मैंने उसे कुछ देर के लिए बंदी बना लिया है। तुम रथ पर बैठ आगे चलो, वह पीछे-पीछे आती है।"

कहते है, जटाओं से मुक्त होकर गंगा सात[1] धाराओं मे धरती पर गिरी। तीन पूर्व की ओर गयी, तीन पश्चिम की ओर। सातवी धारा भागीरथी पीछे-पीछे चली। उसकी शोभा का वर्णन नही हो सकता। पर्वतों को पार करती हुई तीव्र वेग से वह आगे बढ़ने लगी। मार्ग में जन्हु ऋषि का आश्रम था। गंगा की वेगवती धारा उसे बहा ले गयी। ऋषि क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने एक ही चुल्लू मे गंगा को पी लिया। पानी की एक भी बूंद धरती पर नही थी। तब देवताओं, गंधर्वों और ऋषियों ने महात्मा जन्हु की पूजा की। ऋषि प्रसन्न हुए और अपनी जांघ चीरकर उन्होंने गंगा को मुक्त कर दिया। इसीलिए उसका एक नाम हुआ जाह्नवी।

फिर गंगा ने पहाड़ पार किये, जंगल पार किये। ऋषिकेश, हरिद्वार, गढ़-मुक्तेश्वर, सोरों, प्रयाग, काशी और पटना—इन सबको पार करती हुई वह वहाँ आयी जहाँ सगर के साठ हज़ार पुत्र राख हुए पडे थे। गंगा का स्पर्श पाते ही वे स्वर्ग चले गये। तब से गंगा इसी प्रकार धरती पर बहती चली आ रही है। भगीरथ के प्रयत्नों से वह आयी थी, इसीलिए उसका नाम भागीरथी पड़ा। उसके

---

1. कहीं-कहीं दस धाराओं की चर्चा आती है। इनमे नौ धाराएँ पन्द्रह कलापूर्ण थी। अलकनन्दा, मदाकिनी आदि भागीरथी की सहायक नदियाँ वे ही हैं। दसवीं धारा सोलह कला-पूर्ण थी। उसे शिव ने बिन्दुसर नामक हिम सरोवर मे डाला था। वही मोक्षदायिनी धारा गोमुख मे प्रगट हुई। कुछ लोग मानते हैं कि शान्तनु, गगा, सात वसुओं की हत्या और भीष्म की कथा का संबंध गगा की सात धाराओं से हो सकता है।

किनारे अनेक तीर्थ है—गंगोत्री, जहाँ भागीरथी का उदय हुआ; बदरीनाथ, जहाँ नर-नारायण ने तप किया; देव-प्रयाग, जहाँ भागीरथी और अलकनन्दा, दोनो मिलकर गंगा बनी; ऋषिकेश, जहाँ वह अपने पिता हिमवान से विदा लेकर समतल भूमि पर आयी, हरिद्वार जो गंगा का द्वार है; कनखल, जहाँ शिवप्रिया सती दक्ष-यज्ञ में जल मरी थी और शिव ने यज्ञ ध्वंस किया था; गढमुक्तेश्वर और सोरों, जहाँ का स्नान मुक्तिदाता है; प्रयाग, जहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम है; काशी, जो शिव की पुरी है; गंगासागर, जहाँ सगर के पुत्रों का उद्धार हुआ।

कहते हैं, एक बार शिव का संगीत सुनकर विष्णु इतने द्रवीभूत हुए कि ब्रह्मा ने अपना कमंडल भर लिया। विष्णु के उन्ही आँसुओं को ब्रह्मा ने बाद में नदी के रूप मे भूतल पर भेजा।

एक और कथा के अनुसार गंगा का विवाह भी शिव के साथ हुआ था। जब वह पीहर छोडकर जाने लगी तो माता मैना पुत्री के वियोग से इतनी व्यथित हुई कि शाप दे डाला, "तू सलिलरूपिणी हो।" वही सलिल ब्रह्मा के कमंडल में भरा रहता था। जब वे उससे बाहर आयी तो सीता, अलकनंदा, चक्षु और भद्रा के नाम से चारों दिशाओं मे बहने लगी। गंगा त्रिपथगा भी है। अलकनंदा के नाम से स्वर्ग में, भागीरथी या जाह्नवी के नाम से पृथ्वी पर तथा अधोगंगा (पाताल गगा) के नाम से पाताल मे बहती है।

गंगा का एक नाम 'विष्णुपदी' है और वह शंकर की जटाओ में समा जाती है। 'विष्णुपद' बादल को भी कहते है। शकर की जटाओ का अर्थ है हिमालय की चोटियाँ। अर्थात पृथ्वी से जल वाष्प बनकर बादल का रूप लेता है। फिर हिमालय की चोटियो पर बरसता है।

इन कथाओ का कोई अंत नही। उनके अनेक रूप युग-युग से इस देश मे प्रचलित हैं। पुराणों ने गंगा को मोक्षदायिनी कहा है। उसके समान और कोई तीर्थ नहीं है। इसीलिए उसको लेकर अनेक प्रतीक कथाएँ प्रचलित हो गयी है। गोस्वामी तुलसीदास ने गाया है·

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कर हितु होई॥

कालातर में इन पौराणिक प्रतीक-कथाओ के साथ कही-कही इतिहास भी जुड़ गया है। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। सुश्रुत के अनुसार शातनु एक प्रकार का धान्य होता है। आश्विन मे उसे वर्षा का जल चाहिए। 'भाव-प्रकाश' के अनुसार आश्विन मास की वर्षा का जल 'गागेय जल' कहलाता है। जब धान्य शातनु को गागेय जल मिलता है तो उनका मिलन होता है। यही मिलन विवाह

है। इसी तथ्य को लेकर किसी कवि ने शान्तनु और गंगा के विवाह का यह रूपक रचा होगा और फिर भरतो के इतिहास मे इसका समावेश हो गया होगा। वेद मे जहाँ भी गंगा शब्द आया है, उसका अर्थ या तो वर्षा है या किरण।

लेकिन गंगा की एक और कहानी है। वह मात्र प्रतीक नही है। भारतीय सस्कृति की वह वास्तविक कहानी है। गगा का जन्म कैसे भी हुआ हो, मनुष्य ने पहली वस्ती उसी के तट पर बसायी थी। पामीर के पठारो मे वरुण की उपासना करने वाली, सुनहरे बालो वाली, एक गौर वर्ण आर्य जाति बसती थी। इस जाति की विशेषता थी अमूर्त का चिंतन और खोज। उसी की खोज मे 'चरैवेति चरैवेति' यह सिद्धांत बनाकर उनकी एक शाखा गंधर्व बदरीनाथ के आस-पास चीड और देवदार के प्रदेश मे आ वसी थी। उस शाखा मे अग्निहोत्र का प्रचलन था। उन्ही के पथ का अनुसरण करते हुए दूसरी शाखा एल वहाँ आयी। वे नर-बलि देते थे। उनके नेता राजा पुरूरवा ने गंगा के सगम पर एक बस्ती बसायी। उसका नाम था *प्रतिष्ठान। उसके समय मे एल और गधर्व—दोनो शाखाएँ मिलकर एक हो* गयी। उसी दिन भारतीय संस्कृति की नींव पड़ी। एलो ने नर-बलि छोड़कर अग्निहोत्र को अपना लिया। गगा की पवित्र धारा मे स्नान करके वे पवित्र हो गये। कालातर में ये और आगे बढ गये और उनके स्थान पर एक और नयी शाखा मान्व वहाँ आ वसी। ये दोनो शाखाएँ आगे चलकर चद्रवशी और सूर्यवशी आर्यों के नाम से प्रसिद्ध हुईं। इसी सूर्यवश मे जह्नु नाम के एक राजा हुए जिन्होने गंगा की धारा से एक नहर निकाली। वह ससार की सबसे पहली नहर थी। यह आजकल जाड़गंगा के नाम से प्रसिद्ध है और भैरोंघाटी के पास भागीरथी मे मिल जाती है। इसीलिए गगा का एक नाम जाह्नवी पड़ा। इन्ही राजा के सात-आठ पीढी बाद विश्वामित्र हुए, जिनका ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से सघर्ष हुआ। विश्वामित्र की पुत्री शकुतला का विवाह चद्रवशी राजा दुष्यत से हुआ और उनके पुत्र भरत ने पहली बार इस देश को एक रूप दिया, वह भारत कहलाया। एक और मान्यता के अनुसार प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर इस देश का नाम भारत हुआ। ये सूर्यवशी थे। सगर, अशुमान, दिलीप और भगीरथ—सभी सूर्यवशी थे।

आर्य लोग गगा के किनारे-किनारे नये-नये नगर और आश्रम बसाते आगे बढ़ने लगे। अहिस्तनापुर, अहिछत्रा, काम्पील्य, प्रयाग और वाराणसी उनमे कुछ प्रमुख है। ऋग्वेद की रचना गंगा के किनारे पर ही हुई। ऐसा लगता है, सूर्यवशी भगीरथ ने गंगा के आदि और अंत की खोज की थी। सम्भवत गगा के बहाव मे कोई रुकावट आ गयी हो। उसके बहाव को ठीक करके उसे भारत की ओर मोड़ने के लिए उस युग के अभियन्ताओं ने समय-समय पर जिस कुशलता परिचय दिया उसका स्पष्ट आभास हरिद्वार से गोमुख तक की यात्रा करने

पाया जा सकता है। श्री शिवानन्द नौटियाल[1] ने अपने लेख 'क्या भगीरथ सचमुच थे' में स्पष्ट लिखा है :

> "गंगोत्री जाने वाले तीर्थ-यात्रियों को स्पष्ट आभास होगा कि गंगा को विशिष्ट घाटी में प्रवेश दिलाने के लिए कितना कठोर कार्य किया गया है। नदियों के बहाव को स्थान-स्थान पर विशिष्ट मोड़ दिये गये है जिसमे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गंगा की इन नहरों को निकालने के लिए बहुत कठोर परिश्रम किया गया होगा।"

उनका तो यह भी कहना है कि आर्य अभियन्ता इतने कुशल थे कि उन्होंने हिमनदों का पनढाल विपरीत दिशा मे न मुड़ जाये, इसलिए शिलाओं के ऊपर शिलाएँ रखकर बांध बनाये थे। हिमशिखरों पर ऐसे अनेक सुन्दर और सुदृढ सरोवरों का निर्माण किया था जिनमे हिमनदों का जल एकत्र हो सके। हिमालय की अधिकाश नदियों का उद्गम स्थान ऐसे ही सरोवर हैं। इनमें कुछ प्रमुख नदियाँ है नन्दाकिनी (रूप,कुण्ड), धौली गंगा (अनाम कुण्ड), लक्ष्मण गंगा (हेम कुण्ड), मन्दाकिनी, (गांधी सरोवर), पिलगधारा (सहस्रताल), भिलग (सहस्रताल)। इनमे भी अधिकाश भागीरथी की सहायक नदियाँ हैं।

ऐसा लगता है, इन अभियन्ताओं मे सबसे कुशल अभियन्ता का नाम भगीरथ था और इसी ने गगा के प्रवाह को ठीक किया था, या फिर यह काम महाराज भगीरथ के राज्यकाल मे उनके विशेष रुचि लेने पर हुआ था। इसीलिए इसका नाम भागीरथी हुआ। इन्हीं के वंश मे राम हुए। महर्षि बाल्मीकि का आश्रम गगा के तट पर ही था, जहां रामायण का संगीत रचा गया और सीता के पातिव्रत धर्म की परीक्षा हुई। गगा के तट पर ही मत्स्यगधा सत्यवती ने वेदव्यास को जन्म दिया। भीष्म का विरुद पाने वाले देवव्रत भी गगा ही के पुत्र थे। द्रौपदी का स्वयवर गगा के तट पर हुआ और कृष्ण की बांसुरी का स्वर लेकर नृत्य करती हुई यमुना भी गंगा मे समा गयी। महाभारत के युद्ध की योजना गंगा के तट पर बनी और फिर आरण्यक सस्कृति का विस्तार करने वाले याज्ञवल्क्य, जनक और अजातशत्रु गगा के तट पर ही फले-फूले। जनक की भरी सभा में याज्ञवल्क्य ने कुरू-पचाल के प्रकाड विद्वानो को चुनौती दी और गार्गी को पराजित करके ब्रह्म के सर्वोत्तम ज्ञाता के रूप मे प्रतिष्ठित हुए।

धीरे-धीरे आर्यलोग गगा के कांठे मे चारों ओर बस गये। उन्होने कन्नौज आदि नये नगर बसाये। उस समय जो सोलह महाजनपद प्रसिद्ध थे, उनमे से अधिकाश गगा के अंचल में ही थे। गंगा के अचल में ही आयुर्वेद का जन्म हुआ।

---

1 सूत्रकार (मासिक पत्रिका), पृ० 21

कला और संगीत का स्वर गूंजा। काशी में जहां एक ओर उपनिषदों की चर्चा होती थी वही दूसरी ओर सुनहरे और बारीक वस्त्रों का निर्माण भी होता था। इसी काशी मे जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का प्रादुर्भाव हुआ और इसी काशी के पास सारनाथ मे तथागत बुद्ध ने पहला उपदेश दिया। इसी समय गगा के दक्षिण तट पर पाटलीपुत्र की नीव पड़ी, जहाँ नंद साम्राज्य का उदय हुआ और चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' की रचना के साथ-साथ सम्राट चद्रगुप्त के साम्राज्य का निर्माण किया। इसी पाटलीपुत्र मे देवानाम् प्रिय अशोक ने अहिंसा और प्रेम के आदेश प्रसारित किये। क्षमा और प्रेम के इन अपूर्व सदेशों को जिन स्तम्भो पर अकित किया गया वे भी गगा के किनारे चुनार मे ही बने। चुनार की प्रस्तर कला की सजीव गठन और अप्रतिभ ओज आज भी ससार को चकित किये हुए है।

मौर्यों के बाद आये शुंग। गगा के तट पर फिर अश्वमेघ यज्ञ होने लगे। नये शास्त्र और स्मृतियाँ रची गयी। रामायण और महाभारत इसी काल मे पूर्ण हुए। इसी काल में हुए महाभाष्यकार पतजलि। मूर्ति और चित्रकला का एक नया रूप गगा के कछार में पनपा। नागों के भारशिव राजवंश ने गगा को अपना राज्य चिह्न बनाया। दस अश्वमेध यज्ञ किये। उसकी स्मृति मे वह स्थान आज भी दशाश्वमेघ घाट कहलाता है। वाकाटक नरेश प्रवरसेन ने गगा को शिलालेखो, मुद्राओं, ध्वजाओ और देवमन्दिरों के द्वारों पर स्थान देकर देश की मुक्तिदायिनी बना दिया। गुप्तवंश का उदय भी गंगा के तट पर ही हुआ। कला, सगीत, वाग्मय और सामाजिक व्यवस्था की सबसे अधिक उन्नति इसी काल में हुई। समुद्रगुप्त की दिग्विजय और चन्द्रगुप्त के पराक्रम के साथ कालिदास की वीणा का सुमधुर स्वर गगा के तट पर ही गूंजा। गंगा की मूर्तियाँ बनी। पूजा शुरू हुई। उसके किनारे तीर्थों का जाल बिछ गया। धार्मिक मेले होने लगे। उनको नया रूप दिया सम्राट हर्षवर्धन ने। प्रसिद्ध चीनी भिक्षु श्वानच्याग हर्ष के इस अपूर्व दान का साक्षी रहा है। गंगा के तट पर ही विक्रमशिला का अद्वितीय विद्यापीठ है, जहाँ देश-विदेश के विद्यार्थी काव्य-शास्त्र की चर्चा में समय बिताते थे।

गंगा के तट पर ही राष्ट्रकूट वंश के ध्रुव ने फिर से इन प्रदेशों को जीतकर गंगा को अपना राज्य-चिह्न बनाया। उसके बाद भारत मे एक नयी संस्कृति ने प्रवेश किया। अनेक मुस्लिम नरेश जहाँ कही भी रहते हों, गंगा का जल पीते थे। अबुलफ़ज़ल, इब्नबतूता और बर्नियर के विवरण इस बात के साक्षी है। महर्षि चरक, वाग्भट्ट (अष्टाग हृदय) और महाभारत आदि में गंगा-जल को स्वास्थ्य-वर्धक बताया गया है। आयुर्वेद के अनुसार वह वृद्धावस्था के रोगों का नाश करने वाला है। निश्चय ही गगा के उद्गम स्थान पर कोई ऐसी रासायनिक प्रक्रिया होती है, जिसके कारण वह जल कभी नही सड़ता।

शेरशाह ने माल बंदोबस्त का क्रम गंगा के किनारे पर ही चलाया। सौंदर्य

की रानी नूरजहाँ बहुधा गंगा-तट पर आकर रहती थी। सुदूर दक्षिण के अनेक महापुरुष मुक्ति की खोज में यहीं आते थे। प्रतिभा-पुंज शंकर ने दिग्विजय के पश्चात गंगा तट पर ही मुक्ति प्राप्त की। रामानन्द, कबीर और रैदास ने यहीं जाति-पाँति के विरुद्ध विद्रोह का स्वर उठाया और तुलसी ने जन-कल्याण के लिए 'रामचरितमानस' की रचना की। मलूकदास भी गंगा के किनारे ही घूमा करते थे। गंगा के किनारे ही पश्चिम से आकर एक नयी संस्कृति ने सबसे पहले अपना प्रभाव स्थापित किया। महानगरी कलकत्ता गंगा के किनारे ही उभरी। यहीं पर राजा राममोहनराय से लेकर दयानन्द तक ने नये सुधार-आन्दोलनों का सूत्रपात किया।

दयानन्द ने तो सच्चे शिव की तलाश में अलकनन्दा की घाटी में प्राणों की बाज़ी लगा दी थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी गंगा तट पर ही हिन्दी भाषा का निर्माण किया। रवीन्द्रनाथ की कविता और अवनीन्द्र की कला यहीं पर प्रस्फुटित हुई।

कवि-कोकिल विद्यापति ठाकुर ने गंगा की महिमा गाते हुए एक अत्यंत मार्मिक गीत लिखा है। कथा आती है कि जब उन्हें लगा, उनका अंतिम काल समीप है तो वह गंगा तट की ओर चल पड़े। उनका सेवक ऊगना उनके साथ था। एक दिन मार्ग में वह अन्तर्धान हो गया। कहते हैं कि स्वयं शिव-शंकर ऊगना के रूप में धरती पर आये थे। ऊगना के वियोग में कवि-कोकिल विद्यापति ने यह गीत लिखा, "ऊगना रे भोर कतयगेला।"

और यह गीत लिख कर वह उसी स्थान पर बैठ गये। कहा, "मैं अब गंगा मैया से मिलने इतनी दूर आ गया हूँ तो वे क्या मुझसे मिलने मेरे पास नहीं आयेंगी?"

रातों-रात अपनी धारा बदल कर मैया उस स्थान पर आ गयी। उस स्थान के पास जो रेलवे स्टेशन है उसका नाम विद्यापति नगर है। उस प्रतीक-कथा को अमर कर दिया है उस नाम ने।

स्वातंत्र्य संग्राम के अनेक रोमांचक दृश्य यहीं पर घटित हुए। यहीं पर युद्ध से त्रस्त मानवता को एक बार फिर भारत ने अहिंसा और प्रेम का पाठ पढ़ाया। पं० जवाहरलाल नेहरू तो गंगा पर मुग्ध थे। अपनी वसीयत में उन्होंने कैसा सुन्दर कैसा मोहक, कैसा सच्चा चित्र खींचा है :

> "गंगा तो विशेषकर भारत की नदी है, जनता की प्रिय है जिससे लिपटी हुई है भारत की जातीय स्मृतियाँ, उसकी आशाएँ और उसके भय, उसके विजय-गान उसकी विजय-पराजय ! गंगा तो भारत की प्राचीन सभ्यता की प्रतीक रही है, निशान रही है, सदा बदलती, सदा बहती, फिर वही गंगा की गंगा।

वह मुझे याद दिलाती है हिमालय की बर्फ़ से ढँकी चोटियों की ओर गहरी घाटियों की, जिनसे मुझे मोहब्बत रही है। और उनके नीचे के उपजाऊ और दूर-दूर तक फैले मैदान जहाँ काम करते मेरी ज़िन्दगी गुज़री है। मैंने सुबह की रोशनी में गंगा को मुसकराते उछलते-कूदते देखा है और देखा है शाम के साये में उदास काली-सी चादर ओढ़े हुए, भेद भरी; जाड़ों मे सिमटी-सी आहिस्ता-आहिस्ता बहती सुन्दर धारा और बरसात मे दहाड़ती-गरजती हुई, समुद्र की तरह चोडा सीना लिये और सागर को बरबाद करने की शक्ति लिये हुए। यही गंगा मेरे लिए निराली है, भारत की प्राचीनता की यादगार की, जो बहती आयी है, वर्तमान तक और बहती चली जा रही है भविष्य के महासागर की ओर।"

इसी तथ्य को कवि सुमित्रानन्दन पन्त इस प्रकार रेखांकित करते है :

> मैं हिमतनया मैं मेरु-आत्मजा मनोरमा की दुहिता,
> मेरी धारा में जन-मन की धारा अविराम समायी।
> मेरे पुलिनों पर बसे प्रथित जनती थे ग्राम पुर जनपद,
> मेरे अंचल में मुक्ति मनुज ने जन्म-मरण से पायी।
> मैं उर्वर रखती धरती का उर, सूक्ष्म मृत्तिका भर कर,
> मेरी करुणा अंचल-सी जीवन हरियाली मे छायी।

गंगा उत्तर के बहुत बड़े भाग को सीचती है। असंख्य वर्षों से पैतृक दाय के रूप मे हिमालय से मिट्टी लाकर उसने उत्तरी भारत के इस दोआब का निर्माण किया है। यदि गंगा न होती तो प्राकृतिक दृष्टि से यह प्रदेश एक विशाल मरुस्थल हुआ होता। जहाँ गगा नही जाती वहाँ से बहुत-सी सरिताएँ आकर उसमे मिल जाती है। राम की सरयू, कृष्ण की यमुना, रतिदेव की चम्बल, गजग्राह की सोन, नेपाल की कोसी, गण्डक और तिब्बत से आने वाली ब्रह्मपुत्र सबको अपने में समेटती हुई और अलखनदा, जाह्नवी, भागीरथी, हुगली, पद्मा, मेघना आदि नाना नाम धारण करती हुई पतित पावनी गगा अत मे सुन्दर वन के स्थान पर बंगाल की खाडी मे लय हो जाती है।

निश्चय ही गंगा उत्तर भारत को सीचती है, लेकिन उसका प्रभाव समूचे देश को अनुप्राणित करता है। दक्षिण मे काची के समीप समुद्र-तट पर मामल्लपुरम् में गंगा की महिमा का एक ज्वलंत उदाहरण पहाड पर उत्कीर्ण है। पल्लव राजा महेन्द्र वर्मा प्रथम और उनके पुत्र नृसिंह वर्मा के काल मे, सातवी सदी के प्रारंभ मे, इसकी रचना हुई। एक विशाल चट्टान पर अट्ठावन फुट लम्बी और तैंतालीस फुट चौड़ी परिधि में गंगावतरण का दृश्य खुदा है। भगीरथ घोर तपस्या में लीन